प्रकाशक—

साहित्य संसार, पटना

मुद्रक,

'इंडियन नेशन' प्रेस,

पटना

प्रस्तावना

दरभंगा-नरेश महाराजाधिराज सर कामेश्वर सिंह बहादुर के निमंत्रण पर मैंने श्रीमिथिलेश-महेश-रमेश व्याख्यानमाला में दो भाषण दिए। वही पुस्तकाकार प्रकाशित किए जा रहे हैं।

इन भाषणों में मेरी अपनी खोज की कोई चीज़ नहीं है। मैं संस्कृत का विद्वान् भी नहीं हूँ। जिन विद्वानों ने अपने जीवन लगाकर संस्कृत-साहित्य के भिन्न भिन्न विभागों का गहरा अध्ययन किया है और अपनी खोजों के फलस्वरूप निर्णयों को अपने ग्रंथों में लिखा है, उनकी ही पुस्तकों से चयन और संकलन करके मैंने इन भाषणों को तैयार किया था। मेरी मौलिकता इनमें कुछ नहीं है—पर दूसरे विद्वानों के मौलिक विचारों का संग्रह यहाँ दिया गया है। जिनके आधार पर ये तैयार किए गए हैं, उनकी सूची अलग से दी जा रही है। बहुत करके तो उनके शब्दों को ही उठाकर उद्धृत कर दिया गया है। ग्रंथों का हवाला दिया गया है। मैं उन सभी विद्वानों को अपनी कृतज्ञता प्रकट करना चाहता हूँ। यदि कहीं भूल से हवाला छूट गया हो तो मैं आशा करता हूँ कि विद्वान् अथवा उनके ग्रंथों के प्रकाशक क्षमा करेंगे।

भाषणों के तैयार करने में और प्रेस के लिए कापी तैयार करने के समय ग्रंथों का हवाला जाँच करने में मुझे भारतीय इतिहास परिषद् के मंत्री श्री जयचंद्रजी विद्यालंकार और उसके कार्यकर्त्ता श्री पृथ्वीसिंह और श्री अमृतपाल से बहुत सहायता मिली है। मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

चित्रों में से बहुतेरे श्री जयचंद्र विद्यालंकार के सौजन्य से प्राप्त हुए और कुछ भारतीय पुरातत्व-विभाग से मिले हैं। मैं इन दाताओं का भी कृतज्ञ हूँ।

मुझे इस बात का दुःख है कि बिहार में संस्कृत शिक्षा के इन्स्पेक्टर पं० ईश्वरीदत्त दौर्गादत्तिजी का, जिनका इन भाषणों के दिलवाने का बहुत आग्रह था और जिन्होंने इनको छपवाने का भार लिया था, उस काम के पूरा होने के पहले ही स्वर्गवास हो गया। उनकी मृत्यु के बाद छपवाने का प्रबंध मुझे करवाना पड़ा और यहाँ मैं 'आरती' के संपादक श्री प्रफुल्लचंद्र ओझा 'मुक्त' को धन्यवाद देना चाहता हूँ, जिन्होंने प्रूफ इत्यादि पढ़ने का भार उठाया।

वर्धा }
२५—११—४१ }

राजेंद्र प्रसाद

विषय सूची

चित्र-सूची

ग्रंथ-निर्देश

ओझा, महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचंद—

(१) भारतीय प्राचीन लिपिमाला, द्वितीय संस्करण, अजमेर, १६७५ वि०

(२) मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, प्रयाग, १६२६ ई० ।

कृष्णदास, राय—

(१) भारतीय मूर्त्तिकला, काशी, १६६६ वि० ।

(२) भारत की चित्रकला, काशी, १६६६ वि० ।

दत्त, विभूतिभूषण—

वैदिक मैथेमैटिक्स (कल्चरल हेरिटेज आफ़ इंडिया जि० ३, पृ० ३७८ आदि), कलकत्ता, १६३८ ई० ।

द्विवेदी, पं० सुधाकर—

(१) च कलन, बनारस, १८८६ ई० ।

(२) गणित का इतिहास, बनारस, १६१० ई० ।

मैक्डोनल, सर आर्थर एंटोनी—

इंडियाज़ पास्ट, आक्सफ़र्ड, १६२७ ई० ।

विद्यालंकार, जयचंद्र—

(१) भारतीय इतिहास की रूपरेखा, प्रयाग, १९३३ ई० ।

(२) भारतीय वाङ्मय के अमर रत्न, प्रयाग, १९३३ ई० ।

(३) इतिहास प्रवेश, प्रयाग, १९३८ ई० ।

शामशास्त्री संपादित—

वेदांग ज्यौतिष, भूमिका, मैसूर, १९३६ ई० ।

शील, डा ब्रजेंद्रनाथ—

पॉज़िटिव साइंसेज़ आफ दि एंश्येंट हिंदूज़, लंदन, १९१५ ई० ।

सरकार, डा० विनयकुमार—

हिंदू एचीवमेंट इन एग्ज़ेक्ट साइंस, लंदन, १९१८ ई० ।

सेनगुप्त, एस० पी०—

हिंदू एस्ट्रानोमी (कल्चरल हेरिटेज आफ इंडिया, जि० ३ पृ० ३४१ आदि), कलकत्ता, १९३८ ई० ।



डॉ० राजेंद्र प्रसाद

संस्कृत का अध्ययन
उसकी उपयोगिता और उचित दिशा

—:o:—

पहला अध्याय

संस्कृत भाषा की पूर्णता तथा उसके वाङ्मय का विस्तार और महत्व

§ १. संस्कृत का ज्ञान-भांडार, उसका मूल्य

संस्कृत के विशेषज्ञ विद्वानों की मंडली में मेरे लिए कुछ कहना कठिन समस्या है। मैं इसके लिए सर्वथा अयोग्य हूँ और अगर मेरा वश होता तो मैं इस अनधिकार चेष्टा का अपराधी न होता। पर महाराजाधिराज बहादुर के आग्रह और पंडितप्रवर ईश्वरीदत्त दौर्गादत्तिजी के अनुरोध को मैं नहीं टाल सका और अविज्ञ होकर भी विज्ञों को संबोधित करके कुछ कहना चाहता हूँ।

यद्यपि अविज्ञ हूँ, पर संस्कृत विद्या पर मेरी अगाध श्रद्धा है, क्यों कि इसमें ज्ञान का भांडार है और एक समय था, जब यह भांडार संसार

में अपना जोड़ नहीं रखता था और आज भी जब आए दिन नए आविष्कारों के चमत्कारपूर्ण, मानव जाति के लिए सुखद और दुःखद फल देखने में आया करते हैं, उस भांडार में से ढूँढ़-ढूँढ़कर कुछ ऐसी मूल्यवान वस्तुएँ निकाली जा सकती हैं, जिनको संसार ने अभी तक नहीं पाया है। इसलिए यदि मैं उसकी महिमा के गुणगान के साथ कुछ त्रुटियों की ओर भी ध्यान दिलाऊँ तो मुझे भरोसा है कि विद्वान् लोग क्षमा करेंगे। रोग दूर करने के लिए कड़वी घूँटें भी पीनी पड़ती हैं और पके घाव पर नश्तर भी लगाना पड़ता है।

संस्कृत विद्या की महिमा हम भारतवासी पूरी तरह नहीं जानते। उसके अमर रत्न ऐसे नहीं हैं, जो केवल दिखावे के लिए आभूषणमात्र का ही काम देते हों, जिनसे शोभा तो कुछ बढ़ती हो, पर मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति न हो सकती हो। उनमें वह संजीवनी शक्ति भी है, जो मृतप्राय शरीर में भी जान डाल सकती है; पर वह शक्ति तभी उपयोग में लाई जा सकती है, जब उनको ठीक उसी तरह शोध और साध लिया जाय, जिस तरह मोती, पन्ना, हीरा और दूसरे जवाहरात को शोध-साधकर ही चतुर वैद्य औषध के रूप में उपयोग करता है और अद्भुत फल दिखलाता है। हमको यह मान लेना चाहिए कि संसार में विद्वान् लोग नई चीजों के आविष्कार में अनादि काल से लगे चले आ रहे हैं। हमारे पूर्वज ऋषियों और तपस्वियों के अथक और अनवरत परिश्रम और खोज का ही फल संस्कृत साहित्य के भांडार में पड़ा है और यदि हम उसके महत्व को समझते और उसमें लगे रहते तो आज भी हम किसी से पीछे न रहते। आज हमको अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच में लिखे ग्रंथों पर निर्भर होने की जरूरत न पड़ती; पर यह निर्विवाद है कि आधुनिक विद्या से

अनुराग रखनेवाले केवल संस्कृत का ज्ञान लेकर ही संतुष्ट नहीं हो सकते — उनकी भूख इससे पूरी नहीं हो सकती और न वे संसार की प्रगति से पूरा परिचय प्राप्त कर सकते हैं। किसी ज़माने में संस्कृत यहाँ की बोलचाल की भाषा रही हो, पर वह दिन बीते बहुत ज़माना हो चुका। संस्कृत शब्द ही इस बात का द्योतक है कि साधारण जनता की बोलचाल की चीज़ नहीं, पर विद्वानों की भाषा ही वह बहुत दिनों से बनकर रही है। आज तो यह कहना भी गलत नहीं है कि उसका अभ्यास, धार्मिक प्रवृत्ति न हो तो, बहुतों को अनावश्यक जान पड़ता है। इसलिए हम अगर उसके महत्व को न समझें और उसमें पूरी श्रद्धा न रक्खें, तो आश्चर्य की बात नहीं है। विद्या केवल ज्ञान के लिए थोड़े ही लोग प्राप्त करते हैं—अधिकांश जनसाधारण उसके अर्थकरी होने के कारण ही उसे अपनाता है। संस्कृत विद्या आज अर्थकरी विद्या नहीं है और अनेकानेक संस्कृत विद्वानों की संतान भी उसे छोड़ दूसरे प्रकार की विद्या की प्राप्ति के लिए ही समय और श्रम लगाती है। इसलिए यह विचारणीय विषय है कि इस विद्या की ओर लोगों की श्रद्धा क्यों और किस प्रकार प्रोत्साहित की जाय।

संस्कृत का अभ्यास और पठन-पाठन क्यों प्रोत्साहित किया जाय? इस प्रश्न का उत्तर थोड़े में यही है—क्योंकि उसके भांडार में अमूल्य रत्न पड़े हैं, क्योंकि हमारी संस्कृति और सभ्यता का स्रोत इसी से निकला है और आज तक जारी है, क्योंकि हम मानते हैं कि मानव समाज की आज की विक्षिप्त अवस्था में शायद इसमें कुछ ऐसा मिल जाय जो शांतिप्रद औषध का काम दे, क्योंकि हम मानते हैं कि आज भी हम संसार में इसी के कारण जीवित हैं और भविष्य में भी जीवित रहेंगे, क्योंकि अपने भविष्य को उज्ज्वल

बनाने के लिए हमें यह जान लेना आवश्यक है कि हम कैसे और क्यों पीछे पड़ गए और हमारी प्रगति कैसे अवरुद्ध हो गई। इस विषय पर थोड़ी विवेचना आवश्यक है।

संसार के विद्वानों ने मुक्तकंठ से इस बात को स्वीकार किया है कि सबसे प्राचीन ग्रंथ, जो मनुष्यमात्र को आज उपलब्ध हैं, वे हमारे वेद हैं। हम धार्मिक भाव से उनको अनादि मानते हैं, पर जो विदेशी लोग वह धार्मिक भावना नहीं रखते, वे भी इस बात को मानते हैं कि उनसे प्राचीन दूसरे कोई ग्रंथ नहीं हैं। यह भी मानी हुई बात है कि एक समय था, जब हमारे पूर्वज संसार के किसी भी देश के विद्वानों का केवल मुकाबला ही नहीं कर सकते थे, बल्कि देश-विदेश के विद्वान् उनको गुरु मानकर उनके यहाँ विद्या सीखने आया करते थे और भारतीय विद्वान् विदेशों में आमंत्रित किए जाते थे और वहाँ अपनी विद्या का प्रचार किया करते थे। यह भी निर्विवाद है कि बहुत विषयों में हमारे विद्वानों ने जो ज्ञान प्राप्त किया था, वह अपने समय में किसी भी देश के विद्वानों के ज्ञान से कम नहीं था। साथ ही यह भी निर्विवाद है कि यह ज्ञान का स्रोत रुक गया और प्रायः पिछले हजार बरसों में उसमें किसी प्रकार की वृद्धि नहीं हुई। यह कहना अनुचित है कि संसार में कुछ अधिक जानने को था ही नहीं, अथवा हम में वह योग्यता नहीं रह गई थी कि हम उस ज्ञान की अभिवृद्धि कर सकते। हाँ, इसके कारण कुछ अवश्य हुए होंगे कि इतनी दूर तक पहुँचकर हमको क्यों रुक जाना पड़ा; और आज यह भी विचारणीय है कि क्या हम उस कारण को दूर कर सकते हैं और प्रगति का अवरोध हटाकर इस देश और जाति को फिर उस रास्ते पर प्रगतिशील बना सकते हैं? कौन कह सकता है कि यदि हमारे आचार-विचार वैसे ही होते जैसे होने चाहिएँ

थे. अथवा उस समय में थे, जब हमने इतनी उन्नति की थी, तो आज संसार के सामने उस विषम समस्या का कोई हल हम न बतला सकते, जिसके कारण आज इतनी उथल-पुथल और खून-खराबी हो रही है ?

आइए, पहले हम यह देखें कि संस्कृत साहित्य में कौन-कौन से अमूल्य रत्न भरे पड़े हैं, उनकी क्या कीमत है और उनकी क्या उपयोगिता रही है।

§ २. संस्कृत का भाषा-विज्ञान, व्याकरण, वर्णमाला, लिपि और अंक

अंग्रेजी राज्य की स्थापना हुए आज प्रायः १७५ बरस हो चुके हैं। अंग्रेजों में से कतिपय विद्वानों ने हमारे ग्रंथों का पठन-पाठन प्रायः १५० बरस हुए आरंभ किया और वारेन हेस्टिंग्स के समय में ही एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल कायम की गई। सर विलियम जोन्स प्रभृति विद्वानों ने संस्कृत साहित्य के भांडार को देखना और उसकी कीमत आँकना आरंभ किया। यूरोप के अन्य देशों में भी—विशेषकर जर्मनी, फ्रांस और रूस में—वहाँ के विद्वान् संस्कृत का अभ्यास करने लगे और इन १५० बरसों में उन्होंने अपनी भाषाओं में अनगिनत ग्रंथ लिख डाले हैं। हमारे देश में आकर अथवा यहाँ .ग्रंथों को मँगवाकर उनके मंथन में वे इतने दत्तचित्त हुए कि बहुत चीजों में हमारे देश के लोगों का ध्यान भी पहले-पहल उन्होंने ही आकर्षित किया। इस देश से कितनी हस्तलिखित पुस्तकें वे ले गए। आज यूरोप के किसी-किसी संग्रहालय में तो इतने संस्कृत-प्राकृत ग्रंथ मौजूद हैं, जितने हिंदुस्तान में भी विरले ही स्थानों पर हैं। उन्होंने संस्कृत का अभ्यास केवल मनोविनोद के लिए नहीं किया। इस भाषा के ज्ञान पर ही आज के यूरोपीय भाषा-विज्ञान (Philology) की नींव पड़ी है।

संस्कृत का अभ्यास करने पर ही उन्होंने उसमें और यूरोपीय भाषाओं में वह संबंध देखा जिससे वे संस्कृत, फारसी, लातिनी, यूनानी, स्लाव, ल्युतोनी, केल्ती इत्यादि भाषाओं को एक वंश की बतला सके। इसी ज्ञान ने संसार में सभी भाषाओं के अध्ययन का एक दूसरा नया और व्यापक कारण प्रस्तुत कर दिया। भाषा द्वारा मनुष्यमात्र के भूले इतिहास को जानने का एक प्रशस्त और अचूक रास्ता मिल गया। आज इसी रास्ते पर चलकर खोज करते हुए वे मानव-समाज के उस अतीत का, जो बहुत कुछ भूला जा चुका था, चित्र खींच सके हैं और उसे हमारे सामने पुनर्जीवित करके दिखला सके हैं। पश्चिमी विद्वानों द्वारा संस्कृत के अभ्यास ने केवल भारतवर्ष के लिए ही नहीं, सारे संसार के लिए भाषा-विज्ञान और पुरातत्त्व इन दो नए प्रकार की विद्याओं की नींव डाल दी, और आज इनकी बड़ी-बड़ी और सुंदर इमारतें तैयार हो गई हैं और दिन-प्रतिदिन नई इमारतें उस नींव पर बनती जा रही हैं।

वह भाषा-विज्ञान यूरोप के लिए और संसार के लिए इस विषय में एक नई चीज है कि इसमें तुलनात्मक दृष्टि से विभिन्न भाषाओं के विकास और प्रगति की समीक्षा की जाती है और व्यापक नियम ढूँढ़ निकाले जाते हैं। पर ऐसी बात नहीं है कि संस्कृत में भाषा विज्ञान का सर्वथा अभाव था। निरुक्त अगर भाषा-विज्ञान नहीं है तो और क्या है? आज से न मालूम कितने दिन पूर्व व्याकरण और निरुक्त इस देश में पराकाष्ठा तक पहुँचा दिए गए थे। संस्कृत भाषा में वह शक्ति है कि आज के नए से नए विचारों और भावों को वह आसानी से व्यक्त कर सकती है और आज भी, जब हम किसी भी बोलचाल की भाषा में उन्हें व्यक्त करना चाहते हैं तो, संस्कृत शब्दों की ही शरण लेते हैं। आरंभ में

यह भाषा इतनी शक्तिशाली या इतनी परिमार्जित नहीं रही होगी। हमारे पूर्वजों ने छानबीन करके और भाषा के विकास के नियमों का अध्ययन करके ही इसे संस्कृत बनाया और तब उन नियमों को व्याकरण का रूप दिया, जो आज भी इसका नियंत्रण करते हैं। भाषा का विकास इसी प्रकार होता है और हमारे पूर्वजों ने ऐसे समय में इन नियमों को रूप दे दिया था, जब शायद संसार में अन्य किसी भाषा को वैसा रूप नहीं मिला था। पाणिनि ऋषि की कृति इस दृष्टि से अनोखी वस्तु है, पर हमको यह भी मानना होगा कि यदि हमारी प्रगति अवरुद्ध न हो गई होती तो पाश्चात्य विद्वानों का नया भाषा-विज्ञान ईसवी उन्नीसवीं शताब्दी में, और यूरोप में, पैदा न होकर सैकड़ों बरस पहले भारत में पैदा हुआ होता। महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचंद ओझा लिखते हैं—"पाणिनि के पूर्व यास्क ने निरुक्त लिखा, जिसमें औदुंबरायण, क्रौष्टुकि, शतबलाक्ष मौद्गल्य, शाकपूणि, शाकटायन, स्थौलाष्ठीवि, आग्रायण, औपमन्यव, और्णवाभ, कात्थक्य, कौत्स, गार्ग्य, गालव, चर्मशिरस्, तैटीकि, वार्ष्यायणि और शाकल्य नामक वैयाकरणों और निरुक्तकारों के नाम और मत का उल्लेख मिलता है, जिनमें से केवल गार्ग्य, शाकटायन, गालव और शाकल्य के नाम पाणिनि में मिलते हैं, जिससे अनुमान होता है कि पाणिनि और यास्क के पूर्व व्याकरण और निरुक्त के बहुत से ग्रंथ उपलब्ध थे, जिनमें से अब एक भी उपलब्ध नहीं है।"[१]

---

१. भारतीय प्राचीन लिपिमाला, दूसरा संस्करण (अजमेर १९७५ वि०), पृ० ८।

शब्दों के उच्चारण के विज्ञान की हमारे यहाँ बड़ी उन्नति हुई थी और उसी के आधार पर व्याकरण की सृष्टि हुई थी। हमारी वर्णमाला अद्भुत है। सभी भाषाओं में, जो कुछ भी साहित्य रखती हैं, वर्णमाला है; पर जितनी बारीकी के साथ स्वरों का अभ्यास हमारी वर्णमाला के बनाने में किया गया है, उतनी बारीकी और वैज्ञानिकता किसी दूसरी वर्णमाला में नहीं है। जितने प्रकार की ध्वनियाँ हो सकती हैं, सब के लिए अक्षर होने चाहिएँ और एक ध्वनि के लिए एक ही अक्षर होना चाहिए। यह गुण संस्कृत वर्णमाला में ही है, और शायद किसी भी दूसरी वर्णमाला में नहीं है। यह चमत्कार कुछ अनजाने नहीं हो गया। उस विद्या का विधिपूर्वक अभ्यास किया गया, तभी वह इतनी परिपूर्ण और सुंदर बन सकी।

वर्णमाला बनना और प्रत्येक वर्ण के लिए एक चिह्न निकालना दो बातें हैं। एक वर्ण को व्यक्त करने के लिए जो चिह्न हम इस्तेमाल करते हैं, वही लिपि है। लिपि का आविष्कार न मालूम कब हुआ। विद्वानों का कहना है कि उसको बने भी कई हजार वर्ष हो चुके और भारतीय लिपि-माला भारत में ही बनी—किसी विदेश से यहाँ नहीं आई। एक यूरोपीय विद्वान बुहलर ने यह कहा कि हमारी ब्राह्मी लिपि विदेश से आई हुई थी। कुछ समय के लिए लोग उनकी बात में बह गए, पर महामहोपाध्याय पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने अकाट्य प्रमाणों से सिद्ध कर दिया कि यह विचार निर्मूल है और हमारी लिपि का जन्म हमारे देश में ही हुआ है। उन दिनों किस प्रकार और किस चीज पर लिखा जाता था, इसका भी उल्लेख मिलता है; पर इसका इतना पुराना प्रमाण नहीं मिलता, जितना इस बात का कि लोग लिखना जानते थे। पुरातत्व के लेख अब पत्थरों और धातुओं पर ही मिलते हैं अथवा पुराने सिक्कों पर या पुरानी वस्तुओं

पर, जो कहीं खुदाई करके पुराने स्तूपों और खँडहरों से निकाली गई हैं। इतने पुराने कागजों के बचने की तो आशा ही नहीं की जा सकती। यहाँ तालपत्र, भोजपत्र आदि पर बहुत कुछ लिखने की परिपाटी चली आती है, पर रुई से कागज बनाना विदेशियों ने भारतवर्ष में आज से २२००-२३०० बरस पहले देखा था और अपने ग्रंथों में इसका उल्लेख भी उन्होंने किया है।*

लिपि का आविष्कार और प्रचार इस प्रकार वैदिक काल से ही हुआ है। साथ ही साथ अंक का आविष्कार भी उसी पुराने ज़माने में हुआ। ओझाजी लिखते हैं—

"यजुर्वेद संहिता (वाजसनेयी) के पुरुषमेध प्रकरण में, जहाँ भिन्न-भिन्न पेशेवाले बहुत से पुरुष गिनाए हैं वहाँ, 'गणक' भी लिखा है, जिसका अर्थ गणित करनेवाला (गण् धातु से) अर्थात् ज्योतिषी होता है। उसी संहिता में एक, दस (१०), शत (१००), सहस्र (१०००), अयुत (१००००), नियुत (१०००००), प्रयुत (१००००००), अर्बुद (१००००००००), न्यर्बुद (१०००००००००), समुद्र (१००००००००००), मध्य (१०००००००००००), अंत (१००००००००००००), और परार्ध (१०००००००००००००) तक की संख्या दी है और ठीक यही संख्या तैत्तिरीय संहिता में भी मिलती है।

"सामवेद के पंचविंश ब्राह्मण में यज्ञ की दक्षिणाओं का विधान है, जिसमें सबसे छोटी दक्षिणा १२ कृष्णल भर सोना है और आगे की दक्षिणाएँ द्विगुणित क्रम से बढ़ती हुई २४, ४८, ९६, १९२, ३८४,

* वही, पृ० १४४।

७६८, १५३६, ३०७२, ६१४४, १२२८८, २४५७६, ४९१५२, ९८३०४, १९६६०८ और ३९३२१६ भर तक की बतलाई हैं। इसमें श्रेढी गणित का बड़ा अच्छा उदाहरण है और इस प्रकार का लाखों का गणित लिखने और गणित के ज्ञान के बिना हो ही नहीं सकता।

"शतपथ ब्राह्मण के अग्निचयन प्रकरण में हिसाब लगाया है कि ऋग्वेद के अक्षरों से १२००० बृहती (३६ अक्षर का) छंद प्रजापति ने बनाए अर्थात् ऋग्वेद के कुल अक्षर (१२०००×३६)=४३२००० हुए। इसी तरह यजु के ८०० और साम के ४००० बृहती छंद बनने से उन दोनों के भी ४३२००० अक्षर हुए। इन्हीं अक्षरों से पंक्ति छंद (जिसमें आठ-आठ अक्षरों के पाँच पद अर्थात् ४० अक्षर होते हैं) बनाने से ऋग्वेद के (४३२०००÷४०)=१०८०० पंक्ति छंद हुए और उतने ही यजु और साम के मिलकर हुए। एक वर्ष के ३६० दिन और एक दिन के ३० मुहूर्त्त होने से वर्ष भर के मुहूर्त्त भी १०८०० होते हैं अर्थात् तीनों वेदों से उतने पंक्ति छंद दुबारा बनते हैं, जितने कि वर्ष के मुहूर्त्त होते हैं।

"उसी ब्राह्मण में समय-विभाग के विषय में लिखा है कि रात-दिन के ३० मुहूर्त्त, एक मुहूर्त्त के १५ क्षिप्र, एक क्षिप्र के १५ एतर्हि, एक एतर्हि के १५ इदानीं और एक इदानीं के १५ प्राण होते हैं, अर्थात् रात-दिन के (३०×१५×१५×१५×१५)= १५,१८,७५० प्राण होते हैं। इस गणना के अनुसार एक प्राण एक सेकंड के १/१७ के लगभग होता है।" ×

× वहीं, पृ० १२।

ओझाजी ने ठीक ही कहा है कि इस प्रकार का अंकों का हिसाब लिखना जाने बिना नहीं हो सकता था। इस प्रकार लिपि, अंक और वर्णमाला हमारे यहाँ वैदिक काल से ही थीं और हमारा भाषा-विज्ञान और व्याकरण शास्त्र भी बहुत उन्नत था। संस्कृत की वर्णमाला और व्याकरणपद्धति अब भी संसार के लिए पूर्णता का नमूना है।

§ ३. संस्कृत वाङ्मय का विस्तार—उसमें इतिहास की सामग्री

हम भारतवासियों—विशेषकर हिंदुओं के संबंध में एक धारणा हो गई है कि हमारे पूर्वजों ने हमारा इतिहास नहीं लिख छोड़ा है और हमको अपने अतीत का पूरा ज्ञान नहीं था और न है। कुछ हद तक यह बात सही है। उन्होंने इतिहास का प्रकार दूसरा रक्खा है और उसका उद्देश्य भी आज के इतिहास लिखनेवालों से कुछ अलग ही है। आज की परिभाषा में जो कुछ दिन-प्रतिदिन होता है, उसकी तालिका रखना ही इतिहास कहलाता है। इसमें सब प्रकार की घटनाओं का उल्लेख हो सकता है, पर विशेषतः सामाजिक और राजनीतिक विषयों का ही समावेश होता है। इतिहासवेत्ता प्राचीन काल की जानकारी से भविष्य के लिए कुछ पथ-प्रदर्शन खोज निकालने का प्रयत्न करते हैं और इसी को इतिहास के विज्ञान का नाम दिया जाता है। यह चीज यूरोप में भी बहुत पुरानी नहीं है। वहाँ पुरानी चीजों की रक्षा की गई है और उनको वहाँ के लोग अपना गौरव मानते हैं, उनसे अपने अतीत का ज्ञान प्राप्त और प्रचारित करते हैं। हमारे पूर्वजों ने, व्यक्ति-विशेष या घटनाविशेष से जो भला-बुरा हुआ और उससे मानव समाज को जो लाभ पहुँचा अथवा सीखने को मिला, उसी पर

अधिक ध्यान दिया; उस व्यक्ति या घटना की तिथि और तफ़सीली बातों को गौण माना और उनको लिख रखना आवश्यक नहीं समझा। यही कारण है कि हमको बहुत चीजों को जोड़कर किसी व्यक्ति या घटनाविशेष का समय खोज निकालना पड़ता है और उनके संबंध की जानकारी भी बहुत नहीं मिल सकती। इतने आविष्कार हमारे पूर्वजों ने किए, पर हमें उन आविष्कारकों के नाम तक नहीं मालूम; और अगर कहीं नाम मिलते हैं तो इसका ठीक पता नहीं लगता कि वह कौन था, कहाँ का रहनेवाला था, कब रहा और उसने और कौन-कौन से काम किए—उसकी जीवनी का पता जल्दी नहीं चलता। बहुत विषयों में तो एक ही आचार्य या ऋषि के नाम से किसी विषयविशेष की सभी चीजें लिखी-बताई गई हैं। उदाहरणार्थ पुराणों को ही लीजिए। सब एक समय के नहीं हैं और न एक आदमी ने ही सब को लिखा या बनाया होगा; पर सब में सूत का ही जिक्र है। यह ठीक वैसा ही है, जैसे यूरोप के सभी देशों के इतिहास के ग्रंथों का लिखनेवाला कोई एक ही आदमी कहा गया होता अथवा सब एक ही समय के लिखे बताए गए होते। इस तरह हमारे पूर्वजों की कृतियों का संरक्षण बहुत कुछ हुआ है, न कि उनके अपने नाम और जीवन के वृत्तांतों का। शायद यह सोचा गया कि मानव समाज के लिए कृतियों का ही अधिक महत्व है—कर्त्ता की जीवनी मनोरंजक होने के साथ ही कुछ सिखा भी सकती है, पर उसका उतना महत्व नहीं, जितना उन कृतियों से लोगों को क्या लाभ और हानि हो सकती है इसके ज्ञान से होने की संभावना है। इसी दृष्टि से हमारे पूर्वजों ने प्रत्येक घटना का—चाहे वह व्यक्तिविशेष के जीवन में हो, चाहे जनता के जीवन में हो, चाहे वह राजनीति विषयक हो अथवा

तत्वज्ञानविषयक—मूल्य आँका है और उससे जो निष्कर्ष निकाला जा सकता है, वह हमारी सीख के लिए उन्होंने रख छोड़ा है।

संस्कृत के अभ्यास ने आज के आधुनिक अर्थ के भारतीय इतिहास का भी निर्माण करने में बड़ी सहायता पहुँचाई है। पिछले १५० बरसों की खोज और अध्ययन ने एक प्रकार से भारतवर्ष के इतिहास के ढाँचे का प्रायः पूरा-पूरा पुनरुद्धार कर दिया है। यह इतिहास गौरवपूर्ण है। मानव जाति के विकास के तीन मुख्य स्थान प्राचीन काल में पाए गए हैं, जहाँ उसके चिह्न और कृतियाँ मिलती हैं और उनके अध्ययन से पुरातत्त्व का पता लगाकर उस समय के समाज-गठन, रहन-सहन, कला, विद्या इत्यादि की रूपरेखा तैयार की गई है। इन तीनों में एक भारतवर्ष है। यह मानना पड़ेगा कि इस आधुनिक इतिहास को तैयार करने का श्रेय प्रायः पाश्चात्य विद्वानों को ही है। उन्होंने ही हमारे पुरातत्त्व को ढूंढ़ निकालने का बीड़ा उठाया और बहुत कुछ कर दिखाया। आज तो बहुतेरे भारतीय विद्वान् भी ऐसे हैं, जो उनसे टक्कर लेते हैं और बहुत विषयों में जिनकी खोज अधिक व्यापक, अधिक सूझवाली और अधिक ठीक समझी जाती है। ऐसा होना स्वाभाविक भी है, क्योंकि वे स्वभावतः उन चीजों के समझने की अधिक शक्ति रखते हैं। उन चीजों का असर जब हमारे जीवन पर इतना पड़ा है कि हम उन्हें दिन प्रतिदिन अपने जीवन में अनजाने बरतते हैं, तो उनके समझने में हम अधिक समर्थ हों तो आश्चर्य ही क्या है? यह भी स्पष्ट है कि बहुत बातों में विदेशी विद्वान् भूल भी कर गए हैं। वह भी स्वाभाविक ही था। इन्हीं कारणों से यह बात मान लेने की है कि हमारे देश का सच्चा और ठीक इतिहास हमारे अपने लोग ही लिख सकते हैं। किसी भी देश के—विशेषतः भारत के—

सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन की वह गहरी जानकारी जो उससे संबंध रखनेवाले लेखों और दूसरी सामग्रियों की ठीक-ठीक व्याख्या के लिए आवश्यक है, उस देश की संतान को ही हो सकती है, विदेशियों को नहीं। "अत्यंत शुद्ध जानकारी और अत्यंत समवेदनामयी भावना का यह मेल ही है जो इतिहास को सूखे तथ्यों के निरे गट्ठर के दर्जे से उठाकर उदाहरण द्वारा सिखानेवाला तत्त्वचिंतन बना सकता है।"

यह काम हुआ है और हो रहा है। इसमें संस्कृत विद्या का बहुत बड़ा और विशेष स्थान तथा उपयोगिता है। यह केवल उस समय के ज्ञान के लिए आवश्यक नहीं है, जिसको हम प्राचीन भारत कह सकते हैं। उसके बाद मध्यकालीन भारत की भाषाएँ और आज की प्रचलित भाषाएँ भी उसी संस्कृत की बच्चियाँ हैं और आज भी आवश्यकता पड़ने पर उसी की शरण लेती हैं। उसके ज्ञान और विशेषकर वैसे ज्ञान के लिए जो इस प्रकार की खोज में उपयोगी हो सके, संस्कृत का पठन-पाठन अत्यंत आवश्यक प्रमाणित हुआ है और आए दिन उसकी सार्थकता प्रमाणित होती जा रही है।

इस अध्ययन का नतीजा थोड़े शब्दों अथवा पृष्ठों में कह देना या लिख देना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। कम से कम पाँच हजार बरसों में मानव जाति की एक बड़ी और प्रतिभाशाली शाखा के विकास का इतिहास थोड़े शब्दों में कैसे कहा जाय? राजवंशों की गाथा, राजाओं के आपस के युद्ध, हार-जीत को छोड़ भी दिया जाय तो विद्या का विकास, समाज का गठन, जनसाधारण के रहन-सहन का वृत्तांत ही इतना बड़ा है कि वह कई जिल्दों में भी पूरा नहीं हो सकता। यहाँ पर केवल दिग्दर्शन मात्र ही कराया जा सकता है। ऐसा न समझें कि

जो बातें दी जाती हैं, वे किसी एक समय या एक प्रांत के विषय में हैं। सारे देश के संबंध में जो जानकारी हुई है, उसी का निष्कर्ष यहाँ दिया जा सकता है।

भारतीय वाङ्मय का इतिहास अत्यंत गौरवपूर्ण है। उसका दिग्दर्शन मात्र भी कठिन है, क्योंकि उसमें वैदिक काल से आज तक की विभिन्न भाषाओं में लिखित पुस्तकों की सूची भी तैयार की जाय तो एक बड़ी पुस्तक हो जायगी। विषयों के नाम की सूची भी एक बड़ी सूची होगी। वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, वेदांग, दर्शन, व्याकरण, कोष, ज्योतिष, स्मृति और नीति ग्रंथ, वैद्यक, रसायनशास्त्र, ललित कला, काव्य, इतिहास, पुराण इत्यादि में से एक-एक के अध्ययन के लिए बरसों चाहिएँ। इसके अतिरिक्त पालि वाङ्मय, जिसमें विशेषतः बौद्ध ग्रंथ पाए जाते हैं, और जैन वाङ्मय का महत्व भी कम नहीं है। प्रचलित भाषाओं में प्रत्येक का अलग साहित्य है, जो कम नहीं है। भारतीय भारतवर्ष में ही नहीं रहे। उन्होंने विदेशों में भी जाकर अपना सिक्का जमाया और उनका प्रभाव तिब्बती, चीनी, फारसी, अरबी, तुखारी वाङ्मयों पर भी काफी पड़ा। सिंहल तो भारतवर्ष का ही अंश है; वहाँ पर असर पड़ना स्वाभाविक है। परले हिंद (बर्मा, स्याम, मलाया, हिंद चीन और हिंदी द्वीपों) के जीवन में भारतवर्ष ने बहुत कुछ दिया है। अब खोज करनेवाले यह भी कहते हैं कि दक्खिनी अमेरिका तक वे और उनके असर पहुँचे थे, जो आज तक वहाँ के जीवन में साफ दीख पड़ते हैं। इतना विस्तृत क्षेत्र संस्कृत वाङ्मय का है कि एक-एक विषय में हमारा सारा जीवन लग सकता है और फिर भी उसका पूरा ज्ञान न हो तो आश्चर्य नहीं।

दूसरा अध्याय

संस्कृत वाङ्मय में विज्ञान

अक्सर यह कहा जाता है कि भारतीय केवल तत्त्वज्ञान पर ही अधिक ध्यान देते थे और इसलिए उन्होंने आजकल के भौतिक-विज्ञान (Physical Sciences) की तरह की कोई बड़ी चीज नहीं निकाली और न सिखाई। यह लांछन सर्वथा अमूलक है, क्योंकि इस विषय में भी भारतीय किसी भी दूसरी जाति से पीछे नहीं थे और यदि पिछले तीन-चार सौ बरसों का इतिहास अलग कर दिया जाय तो उनका ज्ञान उन विषयों में भी सब से आगे नहीं तो किसी से पीछे भी नहीं था।

§ १. पाटीगणित या अंकगणित

भौतिक विज्ञान के लिए गणित शास्त्र का ज्ञान अत्यंत आवश्यक है। वही सब के मूल में है और उसी की वृद्धि से भौतिक विज्ञान के सब सार्वभौम और सार्वकालिक सिद्धांतों का आविष्कार हुआ है। उस गणित शास्त्र का श्रीगणेश भारतवर्ष में ही हुआ।

गणित शास्त्र का मूल अंकविद्या है। ओझाजी लिखते हैं—"भारतवर्ष ने अन्य देशवासियों को जो अनेक बातें सिखाईं, उनमें सब से अधिक महत्त्व अंकविद्या का है। संसार भर में गणित, ज्योतिष, विज्ञान

आदि की आज जो उन्नति पाई जाती है, उसका मूल कारण वर्तमान अंकक्रम है, जिसमें एक से नौ तक के अंक और शून्य इन दस चिह्नों से अंकविद्या का सारा काम चल जाता है। यह क्रम भारतवासियों ने ही निकाला और उसे सारे संसार ने अपनाया !" §

आपलोगों में से अधिकांश को कदाचित् यह जानने की इच्छा होगी कि इससे पहले संसार की विभिन्न जातियों का अंकक्रम कैसा था और वह किस प्रकार गणित, ज्योतिष, विज्ञान आदि की उन्नति में बाधक था। इस विषय का ओझाजी ने अपनी उपर्युक्त पुस्तक में विशद विवेचन किया है। मैं यहाँ उसका संक्षेप में दिग्दर्शन कराता हूँ।

मिस्र के प्राचीन अंकक्रम में केवल १, १० और १०० इन तीन संख्याओं के ही मूल चिह्न थे। १ से ९ तक की संख्याओं को लिखने के लिए १ के चिह्न (खड़ी लकीर) को ही १ से ९ बार तक लिखना पड़ता था। ११ से १९ तक की संख्या को प्रकट करने के लिए दस का चिह्न बनाकर उसकी बाईं ओर १ से ९ तक का चिह्न अंकित किया जाता था। २०, ३० आदि के लिए १० के चिह्न को ही बार-बार लिखना पड़ता था। २००,३०० आदि लिखने के लिए १०० का चिह्न बार-बार दुहराया जाता और १०००, १०,००० के लिए पृथक्-पृथक् चित्र रहते थे। लाख को सूचित करने के लिए एक मेढक, १० लाख को बताने के लिए हाथ फैलाए पुरुष का चित्र और करोड़

§ मध्यकालीन भारतीय संस्कृति (प्रयाग, १९२८ ई०) पृ० १०८।

के लिए एक गोला रहता था।*

फिनिशियावालों ने २० के लिए एक नया चिह्न ईजाद किया था और ३० से ९० तक की गिनती लिखने के लिए वे १० और २० के चिह्नों को बार-बार दुहराया करते थे।

यूनान और रोम के अंकों में १,५,१०,५०,१०० और १००० के चिह्न थे, जिन्हें वे बार-बार दुहराकर संख्याएँ लिखा करते थे। इस प्रणाली को रोमन अंकप्रणाली कहते हैं। घड़ियों के अंक तथा कभी-कभी पुस्तकों की भूमिका आदि की पृष्ठ-संख्या बताने में आज भी उसका प्रयोग होता है और आप में से अधिकांश लोग उससे परिचित भी हैं। आप समझ सकते हैं कि ये प्रणालियाँ बड़ी-बड़ी संख्याओं को प्रकट करने के लिए कितनी अधूरी हैं।

भारतवर्ष की अंकप्रणाली प्राचीन काल में कैसी थी, इसका पता प्राचीन अभिलेखों से चलता है। उसमें १ से ९ तक की संख्याओं के लिए पृथक्-पृथक् ९ चिह्न शुरू से थे, वैसे ही १० से ९० तक के लिए ९ और चिह्न। उसके आगे १०० और १००० के लिए पृथक् चिह्नों का भी पता हमें मिलता है, और इन्हीं चिह्नों से ९९९९९ तक की संख्याएँ लिखी जाती थीं। लाख, करोड़ आदि के पृथक् चिह्नों के स्वरूप का पता आज हमें नहीं है, क्योंकि अभिलेखों में वे नहीं पाए गए, पर उनके लिए भी पृथक् चिह्न अवश्य रहे होंगे, इसका अनुमान वाङ्मय से होता है। इस

---

* सुधाकर द्विवेदी—गणित का इतिहास, भाग १ (बनारस, १९१० ई०) पृ० १६।

प्रकार १ से ६ तक की संख्याओं के लिखने का तरीका हमारे देश में

४०००		[illegible] [illegible]	
६०००		[illegible]	
८०००		[illegible]	
१००००		[illegible]	
२००००		[illegible]	
६००००		[illegible]	

(ओझाजी की 'प्राचीन लिपिमाला' के आधार पर)

अंकों के कुछ पुराने भारतीय चिन्ह			
	सातवाहन युग		गुप्त युग
	उत्तर भारत	पश्चिम भारत महाराष्ट्र-गुजरात से	उत्तर भारत तथा उपरले हिन्द (तुर्किस्तान) से
१	𑁒	𑁒	𑁒
२	𑁓	𑁓	𑁓
३	𑁔	𑁔	𑁔 𑁔
४	𑁕	𑁕	𑁕
५	𑁖 𑁖	𑁖	𑁖 𑁖
६	𑁗 𑁗	𑁗	𑁗 𑁗
७	𑁘	𑁘	𑁘 𑁘

प्रकार १ से ६ तक की संख्याओं के लिखने का तरीका हमारे देश में अत्यंत प्राचीन काल में, शायद वेदों के ज़माने में भी, आज की ही तरह था। किंतु १०,२० आदि लिखने के लिए पहले १,२ आदि के आगे शून्य न लगाकर १०,२० आदि दहाइयों के निर्दिष्ट चिह्न ही लिखते थे। ११ से ९९ तक की संख्याओं के लिए दहाइयों के अंक लिखकर उनके आगे इकाई का अंक लिख दिया जाता था, जैसे १६=१० ६, २७= २० ७ इत्यादि। २००, ३०० के लिए सैकड़े का चिह्न देकर उसके दाएँ-बाएँ, ऊपर-नीचे या मध्य में कहीं भी एक तरफ उतनी ही सीधी या तिरछी लकीरें जोड़ दी जाती थीं। परंतु ४०० से ९०० तक के लिए १०० का चिह्न देकर एक छोटी लकीर के साथ ४ से ६ तक के अंक जोड़ दिए जाते थे। इसी प्रकार २०००, ३००० के लिए हजार का चिह्न देकर उतनी आड़ी या तिरछी लकीरें और ४००० से ९००० तक के लिए चिह्न के साथ छोटी लकीरों के अंक जोड़ दिए जाते थे। १०००० के लिए १००० के चिह्न के साथ १० का चिह्न जुड़ा रहता था और ९० हजार के लिए ९० का। सैकड़े के चिह्नों के बाद दहाई और तब इकाई के चिह्न रक्खे जाते थे। राशि में दहाई न हो तो सैकड़े के बाद इकाई का अंक ही दे दिया जाता था। ९९९९९ लिखने के लिए ९००००, ९०००, ९००, ९० और ९ लिखा जाता था।

ईसा की छठी सदी तक हमारे देश के अभिलेखों में यही अंकपद्धति प्रचलित थी। उपर्युक्त विवेचन से मालूम होता है कि प्राचीन काल में भी अन्य देशों के मुकाबले में भारतवासी अंकविद्या में बहुत आगे थे। परंतु गणित और विज्ञान की आधुनिक उन्नति के लिए हमारी वह प्राचीन पद्धति भी उपयुक्त न थी। अतः नई अंकपद्धति का प्रचलन किया गया।

इसमें दाईं से बाईं ओर हटने पर प्रत्येक अंक का स्थानीय मूल्य बढ़ जाता है; जैसे १११११११ में छहों अंक १ के ही हैं, परंतु दाहिनी ओर से बाईं ओर हटते हुए प्रत्येक १ का मान क्रम से दस-दस गुना बढ़ता जाता है। इसी से इस क्रम को दशगुणोत्तर या दहाई की अंकपद्धति कहते हैं। दहाई की तरफ बढ़ने की इस पद्धति के बल पर जैसे बड़ी से बड़ी संख्याओं को गिन और लिखकर प्रकट किया जा सकता है, उसी तरह इकाई की दाहिनी तरफ दशमांश को प्रकट करने की पद्धति से सूक्ष्म से सूक्ष्म अंशों को भी अंकित किया जा सकता है। परंतु दशमांश को प्रकट करनेवाली इस दशमलव पद्धति का आविष्कार भारतीय नहीं है। उसकी जगह हमारे ज्योतिष में साठवाँ अंश दाहिनी तरफ लिखने की पद्धति जारी थी। दशमलव की पद्धति यूरोप में १५वीं-१६वीं सदी में निकली और हमारे यहाँ उन्नीसवीं सदी में आई।

दशगुणोत्तर पद्धति का आविष्कार किसने और कब किया यह कहना तो आज हमारे लिए कठिन है; परंतु हमारे यहाँ के अभिलेखों में इस पद्धति से संख्याएँ लिखना साधारण रूप में पहले-पहल ईसा की छठी शताब्दी से पाया जाता है। लेकिन हमारे देश में उसका चलन कम से कम ३०० बरस और पहले से था, जिसके निश्चित प्रमाण वाङ्मय और पुरातत्व से मिल चुके हैं। पातंजल योगसूत्र के प्रसिद्ध भाष्यकार व्यास ने (लगभग ३०० ई०) एक उदाहरण देते हुए लिखा है कि वही १ का अंक सैकड़े के स्थान पर सौ, दहाई के स्थान पर दस और इकाई के स्थान पर एक के लिए प्रयुक्त होता है। पेशावर जिले के यूसुफ़ज़ई इलाके में बख्शाली गाँव की खुदाई से भोजपत्रों पर चौथी शताब्दी ई० की लिपि में लिखी एक पोथी पाई गई है। उसमें अंक-शैली का प्रयोग

बख्शाली पोथी का एक पृष्ठ

हुआ है। उससे पहले यह पद्धति दुनिया में और कहीं किसी को भी ज्ञात नहीं थी। अतः इसके आविष्कार का श्रेय भारतवासियों को ही है और यहीं से यह अरब के रास्ते यूरोप में गई, यह बात सर्वसम्मत है। इससे पहले एशिया और यूरोप की खाल्दी, हिब्रू, अरब आदि जातियाँ अक्षरों से अंकों का काम चलाती थीं।

इस विषय पर अंग्रेजी विश्वकोष* में लिखा है—"इसमें कोई संदेह नहीं कि हमारे वर्तमान अंकक्रम की उत्पत्ति भारतीय है। संभवतः खगोल संबंधी उन सारिणियों के साथ, जिनको एक भारतीय राजदूत ई० सन् ७७३ में बगदाद लाया, इन अंकों का प्रवेश अरब में हुआ। फिर ई० सन् की ९वीं सदी के प्रारंभिक काल में प्रसिद्ध अबूजफ़र मुहम्मद अलखारिज़्मी ने अरबी में उक्त क्रम का विवेचन किया और उसी समय से अरबों में उसका प्रचार बढ़ने लगा।

" यूरोप में शून्यसहित संपूर्ण अंकक्रम ई० सन् की बारहवीं शताब्दी में अरबों से लिया गया और इस क्रम से बना हुआ अंकगणित अलगो-रिट्मस (अलगोरिथम) नाम से प्रसिद्ध हुआ। रेनाड का अनुमान था कि यह विदेशी शब्द (अलगोरिट्मस) 'अलखारिज़्मी' का अक्षरांतरमात्र है। इसकी पुष्टि खारिज़्मी की अप्राप्त पुस्तक के कैंब्रिज से मिले अनुवाद के द्वारा हो गई है। यह अनुवाद संभवतः एडलहर्ड का किया हुआ है। खारिज़्मी की अंकगणित के प्रकारों को बाद के पूरबी विद्वानों ने सरल किया और उन अधिक सरल किए हुए प्रकारों का पच्छिमी यूरोप में पीसा के

---

*"इंसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका" (११वाँ संस्करण, जि० १९, पृ० ८६७)।

लिओनार्दो ने और पूर्वी यूरोप में माक्सिमस् प्लानुदेस ने प्रचार किया। अरबी के 'सिफ़र' शब्द के लिए लिओनार्दो ने 'जिफ़िरो' शब्द का प्रयोग किया है, जिससे 'ज़ीरो' की उत्पत्ति हुई प्रतीत होती है।"*

इस तरह गणित शास्त्र का जन्म यहाँ हुआ। पर केवल जन्म ही नहीं हुआ, वह बहुत ऊँचे दरजे तक पहुँच भी गया, जिसके उदाहरण बहुत मिलते हैं। गणित के आधार पर ही ज्योतिष का निर्माण हुआ और उसकी उन्नति का सबसे सीधा प्रमाण यह है कि उसी की गिनती के अनुसार आज भी हमारे पंचांग बना करते हैं, जिनमें ग्रहों की चाल और प्रति दिन की स्थिति का पूरा ब्योरा रहा करता है। ज्योतिषियों के बताए समय पर ग्रहण लगना देखकर विद्वान् भी उन पंचांगों की सचाई माने बिना नहीं रह सकते। ज्योतिष के अलावा शुद्ध गणित में हमारे पूर्वजों ने बहुत ज्ञान प्राप्त किया था और यद्यपि आज उस समय के अधिकतर ग्रंथ लुप्त हो गए हैं, पर तो भी जो मिलते हैं उनसे उस ज्ञान के विस्तार और गहराई का पता चलता है। अंकगणित या पाटीगणित में उन्होंने योग, ऋण, गुणा, भाग, वर्ग, घन, वर्गमूल और घनमूल इन आठों पद्धतियों को जान लिया था और प्रायः वही पद्धतियाँ आज तक संसार में प्रचलित हैं। इसके अतिरिक्त भिन्न में अंश के नीचे हर रखने और भिन्नों के योग, ऋण, गुणा, भाग, वर्ग, घन, वर्गमूल, घनमूल, लघुतम समापवर्त्य और महत्तम समापवर्त्तक की विधियाँ भी वे जानते थे। वितत भिन्न या मिश्र भिन्न (Continued fraction) का भी एक प्रकार संस्कृत करण ग्रंथों में दिया गया है। दृढ़ या निश्छेद्य भाज्यहार

* मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ० ११३-११४ पर उद्धृत।

निकालने की क्रिया भी उन्हें मालूम थी। भिन्नों की ये सब विधियाँ हमारे यहाँ कुट्टक में सम्मिलित होती हैं। इसी प्रकार श्रेढी गणित के भी अनेक प्रकार ज्ञात हो चुके थे—जैसे, योगोत्तर श्रेढी (एकादिसंकलित या चिति, १ + २ + ३ + ...प), चिति घन (त्रिकोण शंकु या सूचि बनाने की क्रिया), वर्ग चितिघन ($१^२ + २^२ + ३^२ + ...प^२$) घन चितिघन ($१^३ + २^३ + ३^३ + ...प^३$) आदि, जिन्हें अब त्रिभुजाकार संख्याएँ (triangular number) कहते हैं। चितिघन से किसी स्तूप की ईंटों का हिसाब आसानी से किया जा सकता था। गुणोत्तर श्रेढी के सिद्धांत भी यहाँ १२ वीं सदी तक निकाले जा चुके थे। विलोम गणित या व्यस्त विधि, त्रैराशिक, स्वांशानुबंध और स्वांशापवाह, इष्ट कर्म (regula falsa या falsa positio), द्वीष्ट कर्म (regula duorum falsarum), एकादिभेद (combinations), क्षेत्रव्यवहार, अंकपाश (permutations), आदि की विधियाँ भी ज्ञात हो चुकी थीं। एकादिभेद का प्रयोग झरोखे बनाने के लिए हवा के आने का हिसाब करने में, खंडमेरु (पिरामिड) बनाने में, अन्य शिल्पों में और वैद्यक के रसों के लिए औषधों की मात्राओं का हिसाब करने में होता था। इष्ट कर्म द्वारा राशियों का मान निकालना, बावड़ी का नालियों से पानी भरने का समय गिन लेना, साझापत्ती, मिश्रधन जानकर साधारण और चक्रवृद्धि व्याज जोड़ना, मिश्रित वस्तुओं का भाव निकालना तथा वस्तु-विनिमय आदि सभी दैनिक व्यवहारों में त्रैराशिक का प्रयोग वे बहुत पुराने काल से जानते थे, अर्थात् शून्य गणित और व्याज संबंधी सभी नियमों का पता उन्होंने लगा लिया था।

इस प्रकार अंकप्रणाली सहित आज की प्रायः समूची अंकगणित के लिए, जिसे अपने यहाँ सरलगणित, व्यक्तगणित या पाटीगणित कहते थे, संसार आज भारत का ऋणी है। एक यूरोपीय विद्वान् ने लिखा है—"यह एक मार्के की बात है कि भारतवर्ष का गणितशास्त्र हमारे आज के विद्वान् कहाँ तक काम में लाते हैं। आज की पाटीगणित और बीजगणित, रूपरेखा में और तत्व में, वस्तुतः भारतीय हैं। इस विशुद्ध गणित-सिद्धांत अर्थात् अंक लिखने की पद्धति पर विचार कीजिए। भारतीय गणित-पद्धतियों पर विचार कीजिए जो वहाँ तक पहुँच गई थीं, जहाँ तक हम आज पहुँचे हैं और बीजगणित पर विचार कीजिए और तब कहिए कि गंगा के किनारे के ब्राह्मणों के हम कितने आभारी हैं।"[1] आर्य्यभट, ब्रह्मगुप्त और भास्कर के जितने भी ग्रंथ उपलभ्य हैं, संसार को चकित करते रहेंगे।

§ २. बीजगणित

अंकगणित की तरह बीजगणित का ज्ञान भी संसार को बहुत कुछ भारतीयों की देन है, यह बात अब सर्वसम्मत है। भारत ने बीजगणित यूनानियों से सीखी यह ठीक नहीं है, क्योंकि दोनों की बीजगणित-पद्धति में काफी भेद है। गणित के इतिहास-लेखक काजोरी का अनुमान तो यह है कि बीजगणित के प्रथम यूनानी विद्वान् दियोफांतुस् (३६० ई०) को बीजगणित का प्रथम आभास भारत से ही मिला था। उन्नीसवीं सदी के गणितज्ञ द मौर्गां ने लिखा है कि दियोफांतुस् का बीजगणित-ज्ञान

१. काजोरी का लेख, विनयकुमार सरकार के "हिंदू एचीवमेंट इन एग्ज़ैक्ट साइंस" (लंडन, १९१८), पृ० ८ पर उद्धृत।

भारतीय विज्ञान के सामने नाममात्र का है। उसी सदी के जर्मन गणितज्ञ हानकेल ने कहा है कि यदि युक्तिसिद्ध या अकरणीगत (rational) और करणीगत (irrational) संख्याओं और राशियों के मान निर्धारण में व्यक्तगणित के प्रयोग का नाम बीजगणित हो तो उसके आविष्कार का सारा श्रेय हिंदुओं को ही है।१

भारत में दियोफांतुस् के एक शताब्दी बाद हुए आर्य्यभट के ग्रंथ में बीजगणित का जो विकसित और क्रमबद्ध रूप मिलता है, उसको देखते हुए उसे यदि हम वर्तमान बीजगणित का संस्थापक मानें तो अनुचित न होगा। हम बिहारियों को इस बात का गौरव होना चाहिए कि बीज-गणित का यह प्रथम आचार्य आर्य्यभट (प्रथम) आज से लगभग १५०० वर्ष पूर्व पाटलिपुत्र में पैदा हुआ था और सिर्फ २३ वर्ष की आयु में गणित और ज्योतिष संबंधी अपने आविष्कारों से उसने समकालिक विज्ञान-जगत् में क्रांति मचा दी थी। आर्य्यभट के बाद इसमें और भी उन्नति हुई। १२ वीं शताब्दी में भास्कराचार्य के समय तक गणित की इस शाखा ने इतनी उन्नति हो चुकी थी कि उस समय की ईजादें यूरोप में १७वीं-१८वीं सदी में जाकर समझी जा सकीं।

भारतीय ज्योतिष ग्रंथों में पाए जाने वाले बीजगणित-ज्ञान के विषय में प्रोफेसर मैकडानल्ड लिखते हैं—"ये ग्रंथ एक से अधिक अज्ञात संख्या के समीकरण (*equations with more than one unknown quantity*) और एक से ऊँचे स्थल के समीकरण (equation of a higher degree) की रीति बताते हैं। इन विषयों में भारतीय बीज-

१. वहीं, पृ० १२ पर उद्धृत।

गणित अलक्सांद्रिया के यूनानी गणितकार दियोफांतुस् की गणित से आगे बढ़ी हुई थी। भारतीय ग्रंथकारों ने विश्लेषण क्रिया को बहुत दूर तक पहुँचाया था और उनका गणित शास्त्र में सबसे बड़ा आविष्कार यह था कि उन्होंने द्वितीय स्थल की असीमाबद्ध संख्याओं के समाधान (solutions of indeterminate problems of the second degree) की क्रिया निकाली थी। इस क्रिया के संबंध में एक बहुत बड़े विशेषज्ञ हानकेल ने लिखा है कि १८ वीं शताब्दी में फ्रांसीसी ज्योतिषी लाग्रांज़ (Lagrange) तक जितनी क्रियाएँ गणितज्ञों ने निकाली हैं, उनमें सबसे सूक्ष्म यही क्रिया है।" [१]

१२ वीं सदी तक भारतवासी बीजगणित में जिन बड़े-बड़े नियमों का आविष्कार कर चुके थे, उनमें से कुछ ये हैं—

१. ऋण राशियों के समीकरण की कल्पना।
२. वर्ग, घन और अनेकघात समीकरणों को सरल करना।
३. अंकपाश, एकादिभेद और कुट्टक के नियम।
४. एकवर्ण और अनेकवर्ण समीकरण।
५. केंद्रफल का वर्णन करना, जिसमें व्यक्त और अव्यक्त गणित का विकास हो।
६. असीमाबद्ध समीकरण।
७. द्वितीय स्थान का असीमाबद्ध समीकरण।

पिथागोरस के नाम से प्रसिद्ध इस साध्य की, कि समकोण त्रिभुज में कर्ण का वर्ग दोनों भुजाओं के वर्गों के योग के समान होता है, बीजगणित

१. इंडियाज़ पास्ट (आक्सफर्ड, १९२७) पृ० १९१–१९२।

की विधि से दो सिद्धियाँ भास्कराचार्य ने दी हैं, जिनमें से एक वही है जिसे यूरोप में वालिस (१६१६—१७०३ ई०) ने अपने कोण-विभाग विषयक ग्रंथ में पहले-पहल दिया था। इसी प्रकार चलन-कलन (differential calculus) का सिद्धांत यूरोप में पहले-पहल न्यूटन ने १७ वीं सदी में प्रतिपादित किया था। परंतु हमारे यहाँ उससे कम से कम ५०० वर्ष पहले भास्कराचार्य तात्कालिकी गति नाम से इस विधि का आविष्कार कर चुके थे। बाद के भारतीय विद्वानों ने इसके महत्व को नहीं समझा और उसे और विकसित करने की जगह उन्होंने उसका खंडन किया १। करणी की शैली और चिह्नों का आविष्कार भारतीय ही है।

इस प्रकार बीजगणित का आविष्कार और विकास तथा ज्यामिति और खगोल में उसका प्रयोग भारतीयों ने ही पहले-पहल चलाया था। अरब में इसका प्रचार भारतीयों से सीखकर मूसा और याकूब ने किया। वहाँ से वह यूरोप में फैला। चीन और जापान में भी बीजगणित भारत से फैला था इसके काफी प्रमाण हैं।

§ ३. रेखागणित

रेखागणित का ज्ञान भारत में पिछले वैदिक काल से ही काफी उन्नत था २। वेदियाँ और कुंड बनाने में इसकी हमेशा जरूरत पड़ती थी।

---

१. सुधाकर द्विवेदी—चलन-कलन (बनारस, १८८६ ई०), पृ० ५।

२. वैदिक गणित के विषय में आगे जो लिखा गया है, वह "कल्चरल हेरिटेज ऑफ इंडिया" (कलकत्ता, १९३७) में श्री विभूतिभूषण दत्त के लेख के आधार पर है।

भारत की प्राचीनतम रेखागणित, बौधायन और आपस्तंब के शुल्व सूत्रों में पाई जाती है। उनमें तरह-तरह की सरल रेखात्मक आकृतियों के निर्माण, क्षेत्रफलों के जोड़ और रूपांतर तथा आकृतियों और आयतनों की क्षेत्रमिति के प्रकार दिए गए हैं। वृत्त को बराबर के वर्ग तथा वर्ग को वृत्त में बदल देने जैसी अनेक विधियाँ बताई गई हैं। उनमें कर्ण के वर्ग विषयक सिद्धांत का, उसके अनेक प्रयोग होने से, विशेष महत्व है। बौधायन शुल्व (१—४८) में लिखा है कि "समकोण चतुर्भुज के कर्ण पर बना (वर्ग-) क्षेत्र उस (चतुर्भुज) की लंबाई और चौड़ाई (के आधार) पर बने दोनों (वर्ग-) क्षेत्रों को प्रकट करता है।" "वर्ग के कर्ण पर बना क्षेत्र वर्ग से दुगुना होता है।"

समकोण त्रिभुज के कर्ण का वर्ग दोनों भुजाओं के वर्गों के योग के बराबर होता है, यह साध्य आज पिथागोरस का साध्य कहलाता है। यूनानी विद्वान् पिथागोरस का समय लगभग ५०० ई० पू० है। जिस अनुश्रुति के आधार पर यह बात कही जाती थी, वह पिथागोरस से पाँच शताब्दी पीछे की है और वह भी स्पष्ट रूप से यह नहीं बतलाती कि पिथागोरस ने इस साध्य को सिद्ध किया ही था। इसी से गणित के इतिहास-लेखक इस बात की सचाई पर संदेह करते हैं। दूसरी तरफ बौधायन शल्व सूत्र में इस साध्य का साधारण विवेचन मौजूद है। बौधायन का समय भी छठी शताब्दी ई० पू० हो सकता है। भारतीय गणित के इतिहास-लेखक श्री विभूतिभूषण दत्त का कहना है कि शतपथ ब्राह्मण में इस साध्य के प्रयोग के उदाहरण हैं।

शुल्व सूत्रों में वर्ग की एक भुजा ज्ञात होने पर उसका कर्ण = १

$(\text{भुजा}) + \frac{१}{२} + \frac{१}{४} - \frac{१}{३ \times ४ \times ३४} = १.४१४२१५६$ दिया गया है। वर्ग का कर्ण वस्तुतः $\sqrt{}$ २=१.४१४२१३.....होता है। शुल्वकारों की गणित इस प्रकार दशमलव के ५ वें स्थान तक ठीक थी।

रेखागणित में १२वीं सदी तक भारतवासी कहाँ तक पहुँचे थे, इसका अंदाज़ नीचे दिए गए कुछ मुख्य सिद्धांतों से, जो कि उस समय के भारत में ज्ञात थे, किया जा सकेगा—१

१. समकोण त्रिभुज में कर्ण का वर्ग दोनों भुजाओं के वर्गों के जोड़ के बराबर होता है।
२. दिए हुए दो वर्गों के योग अथवा अंतर के समान वर्ग बनाना।
३. आयत को वर्ग या वर्ग को आयत में बदल देना।
४. $\sqrt{}$ का वास्तविक मान और राशियों का मध्यमाहरण।
५. वृत्तों को वर्ग और वर्गों को वृत्त में परिणत करना।
६. दिए हुए एकाधिक तुल्य वर्गों के समान क्षेत्रफल का एक वर्ग बनाना।
७. दिए हुए वर्ग से कई गुने क्षेत्रफल का वर्ग बनाना।
८. विषमकोण चतुर्भुज के करणानयन की विधि।
९. त्रिभुज, विषमकोण चतुर्भुज और वृत्त का क्षेत्रफल निकालना।

---

१. ओझाजी की "मध्यकालीन भारतीय संस्कृति" तथा श्री विनयकुमार सरकार की "हिंदू एचीवमेंट इन एग्ज़ैक्ट साइंस" के आधार पर।

१०. वृत्तखंड की ज्या और उस पर से खींचे गए कोदंड तक के लंब के ज्ञात होने पर (१) वृत्त का व्यास निकालना और (२) वृत्त-खंड का क्षेत्रफल निकालना।

ये दोनों विधियाँ ब्रह्मगुप्त (५९८—६६० ई०) ने दी हैं। इनमें पहली यूनानियों को मालूम न थी। अरब गणितज्ञ मूसा (८३० ई०) ने इन दोनों को ब्रह्मगुप्त के ग्रंथों से सीखा।

११. शंकु (Cone) और वर्त्तुल (वेलन, Cylinder) के घनफल मालूम करना। ब्रह्मगुप्त ने दिखाया है कि शंकु का घनफल वेलन के और सूची (पिरामिड) का घनफल पर्शुक (प्रिज़्म) के घनफल का तिहाई होता है।

हमारे पूर्वजों का त्रिकोणमिति का ज्ञान भी काफी बढ़ा हुआ था [१]। उन्होंने ज्या (Sine) और उत्क्रम ज्या (Versed sine) की सारिणियाँ बना ली थीं, जिनमें वृत्तपाद (Quadrant) के चौबीसवें भाग तक का प्रयोग है। दोनों सारिणियों में ज्या या उत्क्रम ज्या का अभिन्न मान से परिधि की कलाओं में परिदर्शन होता है।

ज्याओं का प्रयोग पुराने यूनानी नहीं जानते थे। अन्य अनेक बातों की तरह इसका ज्ञान भी यूरोप में अरबों द्वारा ही गया। ज्या का वाचक यूरोपीय शब्द साइन (Sine) ज्या के संस्कृत पर्याय शिंजिनी के अरबी रूपांतर का ही अपभ्रंश है। प्राचीन भारतवासियों की ज्योतिष की सारिणियों से सिद्ध होता है कि वे गोलीय (Spherical) त्रिकोणमिति के मुख्य नियमों से भी परिचित थे।

---

१. पूर्वोक्त दोनों ग्रंथों के आधार पर।

घन (Solid या Co-ordinate) ज्यामिति के सिद्धांत यूरोप में पहले-पहल देस्कार्ते (१५९६—१६५० ई०) ने निकाले। परंतु हमारे यहाँ उससे ८ शताब्दी पहले प्रसिद्ध नैयायिक वाचस्पति मिश्र के ग्रंथ में उन सिद्धांतों का पूर्वाभास मिलता है।

§ ४. ज्योतिष

ज्योतिष का विचार हमारे यहाँ वैदिक काल से ही पर्याप्त था[१]। वैदिक ऋषियों का ध्यान स्वभावतः शुरू में गणना की अपेक्षा अंतरिक्ष की घटनाओं के निरीक्षण की ओर अधिक गया। उन्होंने वेदों की काव्यमयी शैली में उन घटनाओं के अनेक सुंदर और सूक्ष्म वर्णन किए हैं। आधुनिक विज्ञान की परिभाषाओं में उनका ठीक-ठीक मूल्य आँकना कठिन है। विद्वानों ने इस दिशा में प्रयत्न किए हैं और उनमें मतभेद भी है, पर इसमें संदेह नहीं कि वैदिक वाङ्मय में ऐसी अनेक स्पष्ट और अस्पष्ट सूचनाएँ हैं, जिनसे ज्योतिष विषयक उनके ज्ञान का अनुमान किया जा सकता है। उदाहरणार्थ वेद में सूर्य को दिन, रात, संध्या, उषा और संवत्सर का करनेवाला और ऋतुओं का कारण माना गया है। ऐतरेय ब्राह्मण (३.४४) में लिखा है—"यह (सूर्य) असल में न कभी अस्त होता है, न उदय। उसे जो अस्त होता मानते हैं, वह केवल दिन के अंत को पहुँचकर अपने आप को पलट लेता है; इधर तो रात कर देता है और उधर दिन। फिर इसे

---

१. वैदिक ज्योतिष के विषय में आगे जो लिखा गया है, वह 'कल्चरल हेरिटेज ऑफ इंडिया' जि० ३ के श्री विभूतिभूषण दत्त और श्री एस० पी० सेनगुप्त के लेखों के आधार पर है।

प्रातः उदय होता जो मानते हैं, वह केवल रात के अंत को पहुँचकर फिर से अपने को पलट लेता है; इधर दिन कर देता है और उधर रात। असल में यह कभी अस्त नहीं होता।" सूर्य की वार्षिक चाल उत्तरायण और दक्षिणायन में विभक्त की जाती थी। वसंत और शरत्-संपात पर दिन-रात का बराबर होना उन्हें ज्ञात था। सूर्य का उत्तरायण शुरू में वसंत-संपात से ही माना जाता था; लेकिन ब्राह्मण ग्रंथों से मालूम होता है कि आजकल की तरह सबसे बड़ी रात और सबसे बड़े दिन के बाद से उत्तरायण और दक्षिणायन का आरंभ मानने की बात भी जानी जा चुकी थी। सूर्य के क्रांतिवृत्त का मार्ग चंद्रमा द्वारा लगभग २९ १/३ दिन में तय होने के कारण क्रांतिवृत्त को बराबर के २७ भागों में विभक्त कर नक्षत्र-मंडलों के आधार पर उन भागों के नामकरण किए जा चुके थे। नक्षत्रों की गिनती साधारणतया २७ थी, कभी-कभी २८ वाँ अभिजित् भी गिना जाता था। इसी तरह द्वादश आदित्यों की कल्पना से यह अनुमान होता है कि क्रांतिवृत्त के बारह भाग करके प्रत्येक भाग में स्थित सूर्य का पृथक् नाम रक्खा गया था। परंतु राशिचक्र के प्रचलित बारह भागों का पता वैदिक वाङ्मय में नहीं मिलता। ये नाम हमारे यहाँ पीछे यूनानियों से लिए गए हैं।

वर्ष के बारह मास, तीन मुख्य ऋतुओं और ३६० दिनों का उल्लेख ऋग्वेद (१.१६४.४८) में हुआ है। वहीं पंचवार्षिक युग की कल्पना का भी निर्देश है (१.१६४.११—१२)। ऋतुएँ सामान्यतः ५ या ६—ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमंत और शिशिर-वसंत या शिशिर और वसंत मानी जाती थीं। वर्ष में बारह महीने गिने जाते और सौर और चांद्र वर्षों का

पारस्परिक अंतर मिटाने के लिए तेरहवें मास का भी उल्लेख है। तेरहवें अधिक मास का सातवीं ऋतु के रूप में भी वर्णन आता है। वर्ष का दिनमान उत्तर वैदिक काल तक ३६५—६६ निश्चित हो चुका था।

ध्यान देने की बात है कि प्राचीन रोमवासी शुरू में दस महीने और ३०४ दिन का ही वर्ष मानते थे। बारह महीनों का संवत्सर वहाँ पहले-पहल राजा नुमा पांपिलियस् (७१५—६७२ ई० पू०) ने वर्ष के आदि में जनवरी और फरवरी मास जोड़कर चलाया था, लेकिन दिन तब भी ३५५ ही माने जाते थे। ५ वीं शताब्दी ई० पू० में वहाँ चांद्र की जगह सौर वर्ष माना जाने लगा, जो ३५५ दिन का ही होता था। इस सौर वर्ष और वास्तविक सौर वर्ष के अंतर को मिटाने के लिए वहाँ अनेक प्रयत्न किए गए। यूनानियों से अधिक मास मानने की रीति ली गई। अंत में ४६ ई० पू० में जूलियस सीज़र ने वर्ष का दिनमान ३६५ $\frac{1}{4}$ निश्चित किया। सातवें और आठवें महीनों के पुराने नाम क्विंतिलियस ('पाँचवां') और सेक्स्तिलियस ('छठा') के नाम बदलकर जूलियस और ऑगस्तुस के नामों पर क्रमशः जुलाई और अगस्त रक्खे गए। ५२७ ई० में ईसाइयों ने ईसा मसीह का जन्म रोम नगर की स्थापना से ७६५ वर्ष बाद कल्पित करके रोमन संवत् को ही ईस्वी सन् के रूप में अपना लिया। उसके बाद ईस्वी सन् के दिनमान का ठीक-ठीक संस्कार यूरोप में १६ वीं सदी में जाकर हुआ।[१]

ऋग्वेद में (६.७१.६; ७६.४) चंद्रमा का सूर्य के प्रकाश को लेकर

१. प्राचीन लिपिमाला, पृ० १६४—६५।

चमकने का भी उल्लेख है ।

उत्तर वैदिक काल में ज्योतिष की गणना वेदांगों में की जाती थी । यज्ञों की तिथि, मुहूर्त आदि स्थिर करने में इस विद्या की वड़ी जरूरत पड़ती थी, इसलिए इस विषय का अध्ययन उस काल में बहुत व्यापक रूप से होता था । दुर्भाग्य से उस काल का लिखा कोई ज्योतिष ग्रंथ आज उपलब्ध नहीं है; पर ब्राह्मण, आरण्यक, कल्प सूत्र और अर्थशास्त्र आदि ग्रंथों में विखरे हुए वचनों और संदर्भों से हम उस काल के ज्ञान का कुछ अनुमान कर सकते हैं। उपलब्ध वेदांग-ज्योतिष के ग्रंथ भाषा और शैली की दृष्टि से वाद के प्रतीत होते हैं, पर उनकी सामग्री निश्चित रूप से पुरानी है ।[१]

भारतीय ज्योतिष के अन्य प्राचीनतम ग्रंथों में हमें वृद्ध गर्गसंहिता, जैनों का सूरिय पण्णत्ति (सूर्य प्रज्ञप्ति) और सूर्य सिद्धांत के नाम मिलते हैं । इनमें सूर्य प्रज्ञप्ति के अतिरिक्त कोई भी आज उपलब्ध नहीं है । गर्गसंहिता नामक पुराने ग्रंथ के कुछ अंश मिलते हैं, जो ई० सन् के आरंभ के करीव लिखे मालूम होते हैं । उनमें युगपुराण नामक एक अंश इतिहास की दृष्टि से वहुत महत्वपूर्ण है और उस युग की राजनीतिक और सामाजिक दशा पर उससे काफी प्रकाश पड़ा है। सूर्य सिद्धांत का प्राचीन ग्रंथ अभी तक नहीं मिला है ! उस नाम का जो ग्रंथ मिलता है, वह वहुत पीछे की रचना है । प्राचीन सूर्य सिद्धांत का संक्षेप वराहमिहिर (५०५—५८७ ई०) ने अपनी पंचसिद्धांतिका में दिया है । सूर्य प्रज्ञप्ति के वाद ज्योतिष का सबसे प्राचीन उपलब्ध ग्रंथ पटने के ज्योतिषी आर्यभट (जन्म-४७६,

---

१. शाम शास्त्री संपादित वेदांग ज्योतिष, मैसूर १९३६, भूमिका,पृ० २ ।

रचना—४९९ ई०) का लिखा आर्यभटीय है, जो बड़े ही महत्त्व का है। वराहमिहिर के ग्रंथ से मालूम होता है कि आर्यभट से पहले पौलिश, रोमक, वाशिष्ठ, सौर और पैतामह नाम से यहाँ ज्योतिष के ५ संप्रदाय प्रचलित थे, जिनमें रोमक संप्रदाय यूनानी गणना-शैली का द्योतक है। आर्यभट के ग्रंथ से मालूम होता है कि अनेक संप्रदायों और आचार्यों के निरीक्षण से उसके समय तक ज्योतिष संबंधी बहुत-सी सामग्री जमा हो चुकी थी। उसने उस सब की उचित जाँच-परख की, यूनान आदि अन्य देशों के समसामयिक ज्ञान को भी समझा और निजी निरीक्षण और आविष्कारों के आधार पर अनेक सुधार करके अपने ग्रंथ में उसे स्थान दिया। अपने समय के ज्योतिष-ज्ञान को उसके आविष्कारों ने बहुत आगे बढ़ा दिया। उसने सूर्य और तारों के स्थिर होने तथा पृथ्वी की परिधि ४९६७ योजन—लगभग २५००० मील—निश्चित की और सूर्य तथा चंद्र ग्रहण के कारणों की वैज्ञानिक व्याख्या की। ये सब बातें उस ज़माने के ज्योतिषियों के लिए एकदम नई और क्रांतिकारी थीं। इसीलिए उसके बाद ब्रह्मगुप्त (५९८—६६० ई०) और लल्ल (लगभग ७४८ ई०)[१] ने उसका काफ़ी विरोध किया। लल्ल ने लिखा—"यदि पृथ्वी घूमती हो तो पक्षी अपने घोंसले को कैसे पहुँच पावें; और आसमान की तरफ़ छोड़े हुए तीर समुद्र की दिशा (पश्चिम) में गिरा करें।"[२]

ब्रह्मगुप्त के बाद भास्कराचार्य (१११४ ई०) का नाम उल्लेख योग्य

---

१. कल्चरल हेरिटेज आफ़ इंडिया, जि० ३, पृ० ३६२।

२. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ० १०४।

है। उसके लिखे ज्योतिष और गणित के अनेक ग्रंथ प्रचलित हैं। उनमें सिद्धांत शिरोमणि की प्रतिष्ठा सबसे अधिक है। इसके लीलावती, बीज-गणित, ग्रहगणिताध्याय और गोलाध्याय नामके चार प्रकरणों में से पहले दो गणित और अंतिम दो ज्योतिष संबंधी सिद्धांतों का प्रतिपादन करते हैं। गोलाध्याय में उसने पृथ्वी की गोलाई और आकर्षण शक्ति का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि "गोले की परिधि का १०० वाँ भाग क्योंकि सम होता है और पृथ्वी भी एक बहुत बड़ा गोला है तथा मनुष्य बहुत ही छोटा है, अतः उसकी पीठ पर स्थित उसे वह सम (चपटी) ही जान पड़ती है।

पृथ्वी क्योंकि आकर्षण-शक्तिवाली है, इसलिए आकाश में स्थित गुरु पदार्थ को वह अपनी तरफ खींच लेती है, इसी से वह गिरता हुआ-सा प्रतीत होता है। चारों तरफ से समान (रूप से स्थित) यह (पृथ्वी) आकाश में गिरे कहाँ?" १

८ वीं शताब्दी में गणित की तरह ज्योतिष भी अरबों ने भारतीयों से सीखा। भारतीय सिद्धांत ग्रंथों का अनुवाद अरबी में 'सिंद हिंद' नाम से हुआ था। खलीफा हारूँ रशीद और अलमामून के दरबार में बहुत से ज्योतिषी भारत से बुलाए गए और इस विषय के अनेक संस्कृत ग्रंथों का उल्था उनसे अरबी में कराया गया। इनमें आर्यभट के ग्रंथ के अरबी अनुवाद का नाम 'अर्जबहर' था।

आर्यभट, वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त और भास्कराचार्य के इन ग्रंथों में क्रांतिवृत्त का विभाग, सौर और चांद्र मासों का निरूपण, ग्रहगति का

---

१. वहीं. पृ० १०५।

निर्णय, अयनांश (precession) का विचार, सौर राशिमंडल, आकाश में पृथ्वी की अपनी शक्ति से स्थिति और अक्ष पर दैनिक गति, चंद्रमा का भ्रमण और पृथ्वी से उसका अंतर, ग्रहकक्षाओं का मान और ग्रहगणित, ग्रहगति और ग्रहस्थिति में उत्क्रांतिवृत्त की कल्पना का प्रयोग, सूर्य, चंद्र और पृथ्वी के आपेक्षिक परिमाण आदि अनेक विषयों का ठीक-ठीक प्रतिपादन है। ये ग्रंथ आज भी पढ़े जाते हैं और बहुत कुछ उन्हीं की गणना के अनुसार आज के पंचांग बनाए जाते हैं। यह एक आश्चर्य की बात है कि उन दिनों दूरबीन के बिना ही हमारे विद्वान् केवल अपनी आँखों से देखकर और गणना के बल पर ग्रह-नक्षत्रों आदि की गति को इतना ठीक कैसे समझ सके। दूरबीन का आविष्कार न हो सका था, पर ग्रहों आदि की गति ठीक-ठीक समझने के लिए और किस्म के यंत्र मौजूद थे। भारत की प्राचीन वेधशालाओं का कुछ अनुमान १८वीं शताब्दी में जयपुर शहर के संस्थापक राजा सवाई जयसिंह के बनवाए जयपुर के मानमंदिर या यंत्र-मंदिर (जंतर-मंतर) से किया जा सकता है। राजा जयसिंह ने अपने इन मंदिरों को बनवाने से पहले यह आवश्यक समझा कि यूरोप में ज्योतिष संबंधी जो नई खोजें हुई हैं, उनको भी समझ लिया जाय। इसके लिए उसने जर्मन ज्योतिषियों को अपने यहाँ बुलाया था। उनकी तालिकाओं को पूरी तरह समझने के बाद ही जयसिंह ने अपने यंत्र-मंदिर बनवाए। इससे यह सिद्ध होता है कि बाहरी ज्ञान ग्रहण करने और अपनाने की हमारी योग्यता सर्वथा नष्ट नहीं हुई थी। सवाई जयसिंह के बनवाए यंत्र मंदिर जयपुर के अतिरिक्त दिल्ली, काशी और उज्जैन में भी मौजूद हैं। यह भी एक मानी हुई बात है कि भारतवर्ष के ज्योतिषी और यंत्र चीन तक पहुँचे थे, और चीन में हिंदू ज्योतिषियों ने वहाँ के

ज्योतिषियों की परिषद् में कभी-कभी प्रधान का आसन भी पाया था। ज्योतिष के संस्कृत ग्रंथों का अनुवाद चीनी भाषा में भी पाया जाता है।

§ ५. भौतिकी

भौतिकी (Physics) एक आधुनिक विद्या है। इसका अभ्यास आज की तरह श्रृंखलाबद्ध रूप से भारतीय, यूनानी या अन्य किसी भी प्राचीन जाति ने नहीं किया था। प्राचीन काल में भौतिकी विषयक जो विचार थे, वे उस समय के तत्वज्ञान और दर्शन में, बिखरे हुए रूप में, थे। दर्शन का आधार वास्तव में प्रकृति के निरीक्षण और पर्यालोचन से निश्चित किए हुए नियम ही होते हैं। प्रकृति विषयक परखे हुए और श्रृंखलाबद्ध ज्ञान को ही हम विज्ञान कहते हैं। उस ज्ञान के आधार पर तत्वों के विषय में हम जो अनुमान और कल्पनाएँ करते हैं, वही दर्शन या तत्वज्ञान है। प्रत्येक युग का दर्शन उस युग के विज्ञान पर निर्भर होता है। प्राचीन भारतवासियों के दार्शनिक विचार यूनानी आदि अन्य समसामयिक और प्राचीन जातियों की अपेक्षा प्रकृति के अधिक सीधे, पैने और व्यापक निरीक्षण और सूक्ष्मतर पर्यालोचन पर निर्भर थे। इसी से ज्ञान के हर क्षेत्र और हर पहलू में उनकी स्थापनाएँ अधिक क्रियात्मक थीं। आर्यों के प्रकृति-निरीक्षण के नमूने वैदिक काल से ही मिलते हैं। वेद में सूर्य की किरणों द्वारा पानी के भाफ बनकर उड़ने से बादल बनने और बरसने आदि के काव्यमय परंतु यथार्थ वर्णन आते हैं। सूर्य की सात किरणों का बराबर उल्लेख हुआ है, जिसमें किरणों के सात रंगों का अभिप्राय जान पड़ता है।

इन्हीं निरीक्षणों और सृष्टि की उत्पत्ति संबंधी कल्पनाओं के आधार

पर आरंभिक दर्शन शास्त्र की नींव पड़ी। हमारा सबसे पहला दर्शन सांख्य था। उसका नाम सांख्य शायद इसीलिए पड़ा कि उसमें तत्वों का संख्यान अर्थात् परिगणन और वर्गीकरण किया जाता था। इससे प्रकृति का निरीक्षण और पर्यालोचन अधिक नियमित रूप से होने लगा। हमारे सभी दर्शनों में पदार्थ (matter) और शक्ति (energy) तथा अणु-परमाणु संबंधी विचार विद्यमान हैं। परमाणुओं के स्वरूप, उनके संघटन और विघटन का विशद विवेचन वैशेषिक और जैन दर्शनों में मिलता है, जो बहुत सच्चा और विज्ञानसम्मत है। वैशेषिक परमाणु को नित्य और अक्षर (अविनाशी) मानता है। एलेक्ट्रोन के आधुनिक आविष्कार से पहले भौतिकी में यह बात प्रायः ज्यों की त्यों मानी जाती थी। त्रसरेणु की लंबाई वराहमिहिर ने बालाग्र का ६४ वाँ भाग माना है, जो एक इंच के $\frac{१}{३४६५२५}$ अंश के बराबर होता है। एक त्रसरेणु में ३० या ६० परमाणु माने जाते थे। इस प्रकार परमाणु के जो परिमाण हमारे यहाँ माने गए थे, डॉ० ब्रजेंद्रनाथ शील ने दिखलाया है कि वे उद्रजद (हाईड्रोजन) के परमाणु के आधुनिक माने हुए परिमाणों के अत्यंत निकट हैं।[१]

शब्द, प्रकाश और ताप के उत्पन्न होने का भीतरी कारण किसी न किसी प्रकार की गति को माना गया है। यह गति न केवल समूचे अवयवी में और उसके प्रत्येक अवयव में मानी जाती थी, बल्कि परमाणुओं में

१. पॉज़िटिव साइंसेज़ आफ दी एंश्येंट हिंदूज़, (लंदन, १९१५), पृ० ८३३।

स्वयं ही एक प्रकार का परिस्पंदन माना जाता था, जो कि उनकी तन्मात्रा का तत्व था।

तम (प्रकृति का स्थूलरूप, मैटर) और रज (प्रकृति का चल रूप, एनर्जी) की अविनाशिता, विकारिता और परिणामिता अर्थात् उनमें निरंतर आंतरिक परिवर्तन होते रहने की बातें सभी दर्शनों में मानी गई हैं। जैन दार्शनिक उमास्वाति का, जिसका समय ५० ई० के लगभग माना गया है, कहना था कि विषम गुण (पॉज़िटिव और नेगेटिव) पुद्गलों (अणुओं) के संयोग से ही संघात बन सकते हैं। यह विचार धन और ऋण विद्युत् कणों के संपर्क के आधुनिक सिद्धांत के बहुत नज़दीक पहुँचता है।

ताप और प्रकाश एक ही तेजोद्रव्य के दो स्वरूप हैं और सभी पार्थिव ताप या अग्नियों का जनक सूर्य का ताप है, यह विचार हमारे दर्शनों में सुपरिचित है। वाचस्पति मिश्र ने ताप और प्रकाश की किरणों का भी निरूपण किया है। चाक्षुषी (optics) के क्षेत्र में अर्ध स्वच्छता और अपारदर्शकता, आपतन (incidence) और परावर्तन (reflection) के कोणों की तुल्यता, विरल से सघन और सघन से विरल माध्यम में से गुज़रते समय किरणों के वर्तन या तिर्यग्गमन (refraction) प्रकाश के रासायनिक प्रभाव, भाँति-भाँति के तालों और दर्पणों के स्वरूप तथा उनमें से गुज़रनेवाली किरणों की नाभि (focus) पर केंद्रीभूत होने का विवेचन हमारे दर्शन ग्रंथों में है।

कंपन द्वारा शब्द की उत्पत्ति, शब्द-तरंगों की तिर्यग्गति (परिस्पंद) तथा तरंगों के रूप में शब्द के विस्तार के सिद्धांत भी उनमें हैं। प्रतिध्वनि

का विश्लेषण भी किया गया है। शब्दों का वर्गीकरण तार, मंद्र आदि श्रुति (pitch) के भेद, तीव्र, मंद आदि घनता के भेद और उनके असाधारण धर्मों के आधार पर किया गया है। संगीत में स्वर (musical notes) का विश्लेषण और श्रुतियों (tones & overtones) की गणित की गई है। स्वर (note) की श्रुति (pitch) अर्थात् कंपनों की संख्या तंत्री की ताँत की लंबाई के व्यस्त मान से होती है। पिथागोरस के नाम से प्रसिद्ध इस सिद्धांत का पता हमारे यहाँ ठीक ठीक था। सप्तक में स्वर की अपेक्षा दुगुनी श्रुतियाँ होती हैं, इस बात का भी पता लगाया जा चुका था। इस तरह वर्तमान यूरोप-अमेरिका का संगीत जिस सप्तक पर निर्भर है, उसका पूरा विकास यहाँ किया जा चुका था।

चुंबक शक्ति का आरंभिक ज्ञान भी था। राजा भोज ने अपने युक्ति कल्पतरु में समुद्रगामी नावों के तलों को लोहे की कीलों से जोड़ने का निषेध किया है; क्योंकि समुद्र में चुंबकीय क्षेत्र में पहुँचने पर उनके खिंच जाने का खतरा रहता था। समुद्र पार करनेवाले भारतीय नाविक दिशा देखने के लिए मत्स्य यंत्र (कुतुबनुमे) का प्रयोग बहुत प्राचीन काल से जानते थे। वह मछली की शकल का बनाया जाता था, इसलिए मत्स्य यंत्र कहलाता था।

गति का भी हमारे शास्त्रों में काफी विश्लेषण किया गया था। वैशेषिक प्रशस्तपाद भाष्य में कर्मग्रंथ नामक अध्याय इस दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। वहाँ कर्म (गति) को संयोग और विभाग का निरपेक्ष कारण अर्थात् द्रव्य में स्थान परिवर्तन करनेवाला कहा गया है। कर्म क्षणिक है। सामान्यतः वह कर्मांतर (दूसरे कर्म) को पैदा नहीं कर सकता। नोदन

(pressure), अभिघात (impact) आदि से उत्पन्न कर्म संस्कार अथवा वेग (impressed motion या momentum) को उत्पन्न करता है। साधारण कर्म से उसमें भेद किया गया है। एक द्रव्य में एक ही क्षण और एक ही दिशा में दो कर्म नहीं हो सकते। एक ही समय में विरुद्ध दिशाओं में प्रयुक्त दो कर्म एक दूसरे का अवरोध कर स्थिरता पैदा कर देते हैं। कर्म की विशेषता यह है कि वह सदा एक ही दिशा में होता है। कर्म संस्कार के कारणों और रूपों के विषय में वैशेषिक में काफी विचार किया गया है। नैयायिकों ने उसी विचार को और आगे बढ़ाया है। उन विचारों में शृंखलाबद्ध यांत्रिकी (mechanics) या गति-शास्त्र (dynamics या kinetics) के बीज हैं और अनेक अंशों में उनमें तथा न्यूटन और गैलेलियो को हजार वर्ष बाद सूझे हुए विचारों में बड़ी समानता है।

§ ६. वैद्यक

वैद्यक का अध्ययन भी बहुत प्राचीन काल से चला आता है और इस विद्या का नाम भी वेद ही दिया गया है। आयुर्वेद और अथर्ववेद प्रायः समकालिक हैं, और उस समय से हजारों बरसों तक इसका अध्ययन जारी रहा। वैदिक वाङ्मय में हम शरीर विद्या (anatomy), गर्भविद्या और स्वास्थ्य-विज्ञान का मूल पाते हैं। अथर्ववेद के समय ही मनुष्य शरीर का इतना अध्ययन हुआ था कि उसमें जितनी हड्डियाँ हैं, उनकी ठीक गिनती दी गई है। अनेक रोगों के नामों और लक्षणों का उल्लेख अथर्व-वेद में है।

बौद्ध ग्रंथों से मालूम होता है कि तक्षशिला का गुरुकुल भगवान् बुद्ध के समय के पहले से इस विद्या का केंद्र था और वहाँ के आत्रेय वंश के आचार्य अपने आयुर्वेद ज्ञान के लिए चारों दिशाओं में प्रसिद्ध थे। बुद्ध के समय जीवक नाम का राजगृह का एक युवक इन्हीं आत्रेय आचार्य के पास यह विद्या सीखने गया था। सात बरस तक पढ़ने के बाद उसका घर लौटने को जी करने लगा और उसने आचार्य से कहा कि इस विद्या का तो कहीं अंत नहीं है, अब मुझे घर जाकर कमाने–खाने की आज्ञा दीजिए। आचार्य ने उसके हाथ में एक कुदाली देकर आदेश दिया कि तक्षशिला के चारों तरफ एक योजन के भीतर जिन औषध का गुण और प्रयोग तुम्हें न मालूम हो, उसे उखाड़ लाओ। जब उसे कोई जड़ी-बूटी ऐसी न मिली, तब वह उस विद्या में पारंगत समझा जाकर विदा किया गया। जीवक द्वारा भगंदर, मस्तिष्क और आंत्रसंबंधी कठिन रोगों की चीर-फाड़ करके इलाज किए जाने की अनेक कथाएँ हैं। भारतीय औषधों से यूनानी बहुत प्राचीन काल से परिचित थे। यूनानी औषध विज्ञान के पिता हिपोक्रातेस् (४५० ई० पू०) ने मिरच, लौंग, अदरख, आदि अनेक भारतीय औषधों के हमारे शास्त्रों के अनुसार प्रयोग बतलाए [१]। जब सिकंदर हिंदुस्तान पर चढ़ाई करने आया तो उसने अपने दरबार में भारतीय चिकित्सकों को रक्खा था और वे ऐसे रोगों को भी आराम करते थे, जिनको उसके स्वदेशी चिकित्सक नहीं आराम कर सकते थे। अशोक के शिलालेखों में भारतवर्ष और सिंहल के अलावा ईरान से यूनान और लीबिया तक सभी देशों में मनुष्यों और पशुओं के लिए उसके

---

१. हिंदू एचीवमेंट इन एक्ज़ैक्ट साइंस, पृ० ५०।

चिकित्सालय खुलवाने और वहाँ भारतीय वैद्य तथा औषध भेजने का उल्लेख है।

चरक, सुश्रुत और वाग्भट के ग्रंथों के नाम सभी लोग जानते हैं और उनके ग्रंथ सभी आयुर्वेद विद्यालयों में पढ़े जाते हैं। पर उन ग्रंथों से ही पता लगता है कि उनके पहले और भी ग्रंथ थे, जिनके आधार पर वे बनाए गए थे। आज भी आयुर्वेद की बुनियाद वे ही हैं और वह आयुर्वेद संसार को अपनी सफलता से चकित कर सकता है।

हिपोक्रातेस् के बाद थियोक्रास्तुस् (३५० ई० पू०) नामक यूनानी वैद्य ने गूलर और अन्य भारतीय औषधों का प्रयोग चलाया। उसके बाद सातवीं शताब्दी ई० तक के यूनानी और रोमन वैद्य अनेक नए-नए भारतीय औषधों का हमारे शास्त्रों की बताई विधि के अनुसार प्रयोग करते रहे। जब अशोक के समय से भारतीय वैद्य और औषध उनके देश में पहुँच चुके थे, तब उन्होंने हमारा औषध-विज्ञान सीखा, इसमें आश्चर्य ही क्या है?

हम देखेंगे कि भारतीय सभ्यता सम्य एशिया में भी फैली और वहाँ भारतीय उपनिवेश स्थापित हुए। चीनी तुर्किस्तान की कूचा नामक बस्ती में एक स्तूप के खंडहरों में से लेफ्टिनेंट कर्नल बावर को सन् १८९० में भोजपत्रों पर लिखी कुछ पोथियाँ मिली थीं। जाँच करने पर मालूम हुआ कि उनकी भाषा संस्कृत है और वे आज से प्रायः १६०० बरस पहले की लिखी हैं, और वे वैद्यक के ग्रंथ हैं, जो आजकल उपलब्ध नहीं थे। उनमें अनेक पुराने ग्रंथकारों के नाम आए हैं, जिनमें सुश्रुत के सिवा और किसी के ग्रंथ उपलब्ध नहीं।

आज से बारह सौ बरस पहले अरब और भारत का घनिष्ठ संबंध स्थापित हुआ। तब भारतीय वैद्य अरब राजधानियों में पहुंचे और भारतीय ग्रंथों का अरबी में अनुवाद हुआ। अरब द्वारा वह ज्ञान पच्छिमी यूरोप के देशों में पहुंचा। नालंदा के चीनी विद्यार्थियों द्वारा हमारे वैद्यक का ज्ञान चीन भी गया और तिब्बत में भी यहाँ के वैद्यक ग्रंथों के अनुवाद मिले हैं।

इतनी पुरानी विद्या होते हुए भी इसके सिद्धांत आज भी काम में आते हैं। चिकित्सा शास्त्र ऐसा शास्त्र है, जिसकी जाँच प्रतिदिन के जीवन में होती रहती है। अगर रोग आराम होता है तो इसको हम ठीक मानते हैं। आयुर्वेद का आज भी भारत में अन्य किसी भी चिकित्सा-विधि से कहीं अधिक प्रचार है। अंग्रेजी एलोपैथिक विधि को सरकारी राजकीय सहायता मिलती है और केवल वही हाल तक प्रामाणिक विधि मानी जाती थी। उसके पठन-पाठन और शिक्षा तथा प्रयोग के लिए करोड़ों रुपयों का खर्च हुआ है और होता है। उसके अद्भुत चमत्कार किसी एक देश के लोगों की बुद्धि या प्रयोग के फल नहीं हैं; आज का सारा संसार अपनी विद्या और ज्ञान का आदान-प्रदान करता रहता है। इतना होने पर भी आज तक आयुर्वेद केवल जीवित ही नहीं है, उसकी कद्र दिनोंदिन विद्वानों में बढ़ती जाती है। इसका एकमात्र कारण यह है कि उसकी उपयोगिता और सफलता लोगों को स्पष्ट दीखती है।

इस विद्या को हमारे पूर्वजों ने वैज्ञानिक रीति से सीखा और सिखाया था। मनुष्य-शरीर का उनको बहुत कुछ ज्ञान था। उसमें किस प्रकार कोई दोष आ जाने से रोग पैदा होते हैं, इसका उन्होंने पूरा अध्ययन किया था।

फिर किस तरह उन कारणों को दूर करके रोग को आराम किया जा सकता है, यह भी उन्होंने बहुत कुछ समझ लिया था। खाद्य पदार्थों का तो इतना विश्लेषण किया गया है, जितना आजतक पश्चिमी विद्वानों ने भी नहीं किया है। वनस्पतियों के अतिरिक्त धातुओं को भी उन्होंने पहचाना था और उनसे बने रसों का प्रयोग आयुर्वेद में एक अद्भुत चीज़ है। पारे के गुणों को जितना उन्होंने समझा था, शायद और किसी ने नहीं देखा या सुना। यूरोप के लोगों ने धातुओं को खिलाना भारतवर्ष से ही सीखा था।

आज यूरोप में अनेकानेक प्रयोगशालाएँ हैं, जहाँ हजारों प्रयोग रात दिन हुआ करते हैं। भारतवर्ष में भी उन वनस्पतियों का आधुनिक वैज्ञानिक रीति से अध्ययन किया जा रहा है, जिनका जिक्र आयुर्वेद के ग्रंथों में है और उनके गुणदोष आज की कसौटी पर देखे जा रहे हैं। ऐलोपैथी और होम्योपैथी दोनों ने हमारी प्रयुक्त वनस्पतियों और धातुओं की जाँच और परख करके अपनी विधि के अनुसार उनका इस्तेमाल भी शुरू कर दिया है। अभी भी अनगिनत औषध हैं, जिनका अध्ययन इस प्रकार से नहीं हो सका है, पर हमारे वैद्यलोग उनका इस्तेमाल रोज़ाना किया करते हैं। हमारे रसायन शास्त्र का अध्ययन आधुनिक रीति से अभी बहुत कम हुआ है। धातुओं से जो रसायन तैयार किए जाते हैं, उनका विश्लेषण तो लोगों ने किया है, पर उनके गुणों के ठीक–ठीक कारण अभी तक मालूम नहीं हुए हैं।

वैद्यक शास्त्र के साथ वनस्पति शास्त्र और रसायन शास्त्र का बहुत गहरा संबंध है। मनुष्य शरीर के स्वस्थ और रुग्ण होने की अवस्था का

अध्ययन सबसे पहले जरूरी है और था। तब उसको वनस्पतियों और धातुओं के प्रयोग से स्वस्थ रखना अथवा रुग्ण हो जाने पर फिर स्वस्थ बनाना दूसरा आवश्यक काम है और था। इस विचार से इन शास्त्रों का भी काफी अध्ययन हुआ था। ये शास्त्र भारत के सार्वदेशिक शास्त्र थे, न कि किसी एक प्रांत के। उनमें हिमालय के बर्फ से ढके स्थानों से लेकर राजपूताने की मरुभूमि और दक्खिन के गर्म प्रदेशों में जो वनस्पतियाँ उपलब्ध हैं, सभी के गुणदोष और प्रयोग-विधि का पूरा वर्णन है। इसी प्रकार पच्छिम के पहाड़ में जो नमक और खानों में जो धातु मिलती थी, उनके गुणदोष और प्रयोग-विधि का भी बहुत दूर तक अध्ययन किया गया था। ऐसे यंत्र भी थे, जिनके द्वारा उनसे नाना प्रकार की चीजें तैयार की जाती थीं। वही यंत्र और वही विधि आज के वैद्यलोग भी काम में लाते हैं।

मनुष्य को एक दूसरे प्रकार की आपत्ति का भी कभी–कभी सामना करना पड़ता है। वह उसके शरीर से पैदा नहीं होती, जैसे रोग पैदा हुआ करते हैं। अगर किसी को साँप काट ले अथवा वह कहीं से गिरकर अपने हाथ-पाँव तोड़ डाले तो उसकी यह विपत्ति आगंतुक और बाहर की है। हमारे चिकित्सकों ने इसका भी अध्ययन किया था और इस प्रकार की आपत्तियों के लिए भी उपचार बतलाए हैं। उन्हीं में विष भी है, जो मनुष्य कभी-कभी जाने या अनजाने खा लेता है। इससे बचाने के उपाय और उपचार भी बतलाए गए हैं।

प्राचीन यूनानी साँप के काटने का कोई इलाज न जानते थे। सिकंदर के सेनापति नियार्कस ने आश्चर्य से लिखा है कि सिकंदर की सेना के जो

व्यक्ति इस दुर्घटना में फँसे, भारतीय वैद्यों ने उन सब को ठीक कर दिया। भारतीय विष-विज्ञान बहुत उन्नत था! संखिया का खाने के औषध के रूप में प्रयोग यहाँ बहुत प्राचीन काल से है। यूरोप में लोग संखिया का बाह्य उपयोग तो जानते थे, पर खाने के लिए इसे बहुत आधुनिक काल से ही बरतने लगे हैं।

आज के वैज्ञानिकों को ऐसे साधन उपलब्ध हैं, जो उन दिनों उपलब्ध नहीं थे। यह एक आश्चर्य की बात है कि इन साधनों के बिना भी उन दिनों कैसे और किस प्रकार इतनी बारीकी के साथ मनुष्य शरीर और उस पर असर डालनेवाली वनस्पतियों और धातुओं का अध्ययन किया गया, विशेषकर जिस बारीकी के साथ खाद्य पदार्थों के गुण-दोष बताए गए हैं, उनका अनुसंधान कैसे हो सका था! आज नए औषधों के गुण-दोष जानवरों पर प्रयोग करके जाने जाते हैं और तब उनका इस्तेमाल किया जाता है। इतने औषधों के गुण-दोष कैसे मालूम हुए और कैसे उनको अलग-अलग अथवा मिलाकर उनके लाभालाभ का विवेचन हुआ, यह एक अद्भुत बात है। आजकल बहुतेरे ग्रंथ और पत्र-पत्रिकाएँ संसार में छपा करती हैं और विद्वान् सब को बराबर देखते रहते हैं। सभी विद्वान् अपनी खोजों और अनुसंधानों के फल प्रकाशित करते रहते हैं और दूसरों के प्रयोगों के फलों को प्रकाशित पत्रिकाओं द्वारा जानते रहते हैं। उन दिनों यह साधन उपलब्ध नहीं था। क्या किसी एक मनुष्य ने सभी कुछ जान लिया और उसका पूरा वर्णन करके शिष्यों को सिखा दिया था? ऐसा तो हो नहीं सकता था, क्योंकि ऐसी बात भी मिलती है, जो सभी ग्रंथों में नहीं है। इससे प्रमाणित होता है कि इस शास्त्र का विकास हुआ है।

यह एक अनुसंधान का विषय है कि इतनी वनस्पतियों का गुण-दोष-विवेचन इतनी सूक्ष्मता से कैसे किया जा सका, विषों के गुण-दोष कैसे मालूम हुए, इनका प्रयोग कैसे किया गया? जो मारक वस्तु समझी जाती थी, उसी का फिर रोगों के दूर करने में प्रयोग का आविष्कार कैसे हुआ?

§ ७. शल्यचिकित्सा

आयुर्वेद केवल औषध खिलाकर ही रोगों को आराम नहीं करता था, पर आजकल एक चीज़ जिसे आयुर्वेदीय वैद्य भूल गए हैं, वह भी प्रचलित थी। चीर-फाड़ भी चिकित्सा का एक आवश्यक अंग था। इसके लिए यंत्र थे, जिनके १२७ प्रकार गिनाए गए हैं और उनमें ऐसे-ऐसे तेज़ और सूक्ष्म यंत्र भी थे, जो बाल की खाल भी निकाल सकते थे और वैद्यों को इन यंत्रों के उपयोग में भी निष्णात बनना पड़ता था।

भारत के प्राचीन चिकित्सा शास्त्रों का वर्णन करते हुए महामहोपाध्याय ओझाजी ने अपने 'मध्यकालीन भारतीय संस्कृति' ग्रंथ में लिखा है—"शस्त्रों की संख्या भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न मानी है। इन यंत्रों और शस्त्रों का विस्तृत वर्णन भी ग्रंथों में दिया है। अर्श, भगंदर, योनिरोग, मूत्रदोष, आर्त्तव दोष, शुक्रदोष आदि रोगों के लिए भिन्न-भिन्न यंत्र प्रयुक्त होते थे। व्रण वस्ति, वस्तियंत्र, पुष्पनेत्र (लिंग में औषध प्रविष्ट करने के लिए) शलाका यंत्र, नखाकृति, गर्भशंकु, प्रजनन शंकु (जीवित शिशु को गर्भाशय से बाहर निकालने के लिए) सर्पमुख (सीने के लिए) आदि बहुत से यंत्र हैं। व्रणों और उदरादि संबंधी

रोगों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की पट्टियाँ बाँधने का भी वर्णन किया गया है। गुदभ्रंश के लिए चर्मबंधन का भी उल्लेख है। मनुष्य या घोड़े के बाल सीने आदि के काम में आते थे। दूषित रुधिर निकालने के लिए जोंक का भी प्रयोग होता था। जोंक की पहले परीक्षा कर ली जाती थी कि वह विषैली है अथवा नहीं। मूर्छा में शरीर को तीक्ष्ण अस्त्र से टीके के समान लेखन कर दवाई को रुधिर में मिला दिया जाता था। गति व्रण (sines) तथा अर्बुदों की चिकित्सा में भी सूचियों का प्रयोग होता था। त्रिकूर्चक शस्त्र का भी कुष्ठ आदि में प्रयोग होता था। आजकल लेखन करते समय टीका लगाने के लिए जिस तीन चार सुइयोंवाले औजार का प्रयोग होता है, वह यही त्रिकूर्चक है। वर्त्तमान काल का टूथएलीवेटर पहले दंतशंकु के नाम से प्रचलित था। प्राचीन आर्य कृत्रिम दाँतों का बनाना और लगाना तथा कृत्रिम नाक बनाकर सीना भी जानते थे। दाँत उखाड़ने के लिए एणीपद शस्त्र का वर्णन मिलता है। मोतियाबिंद (catract) के निकालने के लिए भी शस्त्र था। कमलनाल का प्रयोग दूध पिलाने अथवा वमन कराने के लिए होता था, जो आजकल के स्टमक पंप का काम देता था।" (पृ० १२१—२२)

§ ८. शरीर-रचना विज्ञान

शल्य चिकित्सा के लिए शरीर-रचना का ज्ञान अत्यंत आवश्यक है। इस विद्या का हमारे यहाँ शवच्छेदन आदि करके विधिवत् अभ्यास होता था। हड्डियों, मांसपेशियों, नाड़ियों और सूक्ष्म शिराओं आदि का जो विवेचन हमारे शास्त्रों में है, वह आज भी लगभग पूरा ठीक माना जाता है। हड्डी टूटने या उतर जाने पर उसे जोड़ने या बैठाने की विधि आज

भी हमारे यहाँ के अखाड़ों के उस्ताद ऐसी अच्छी तरह जानते हैं कि कभी-कभी उनके कारनामों से चकित रह जाना पड़ता है।

इसके अतिरिक्त हमारे पुरखों ने शरीर के विभिन्न अंगों के कार्य तथा पाचन, रक्त-संचालन आदि प्रक्रियाओं का भी वैज्ञानिक तरीकों पर अध्ययन किया था। रक्त-संचार की ठीक-ठीक प्रक्रिया को हार्वी ने सन् १६२८ ई० में पहचाना। उससे पहले यूरोपवालों का यह ख्याल था कि रुधिर का संचार केवल धमनियों में ही ऊपर-नीचे होता रहता है। हमारे यहाँ का विचार भी यद्यपि अधूरा था, तो भी वह हार्वी के आविष्कार के आधे के करीब तक पहुँच चुका था। हमारे ग्रंथकारों के अनुसार धमनियाँ अशुद्ध रक्त को हृदय से यकृत् की तरफ ले जाती हैं और शिराएँ उसे फिर यकृत् से हृदय की तरफ लाती हैं। रक्त को साफ करने में फेफड़ों की क्रिया की तरफ हमारे आचार्यों का ध्यान नहीं गया था।[१]

चरक और सुश्रुत में नाड़ियों और ज्ञानतंतुओं का केंद्र हृदय को माना गया था। किंतु हठयोगी और तांत्रिक आचार्यों ने यह बात ठीक-ठीक पहचान ली थी कि ज्ञानतंतुओं का केंद्र मस्तिष्क है और मेरुदंड तथा मस्तिष्क का परस्पर संबंध है। बाद के आयुर्वेद-ग्रंथों में भी इसका वर्णन ठीक-ठीक है। यद्यपि हमारे प्राचीनतम आयुर्वेद-ग्रंथों में नाड़ी-परीक्षा की विधि नहीं दी गई है, फिर भी बहुत पुराने काल से यह विधि हमारे यहाँ प्रचलित है। नाड़ी-परीक्षा का ज्ञान भारतीयों ने चाहे खुद प्राप्त किया हो या किसी दूसरे देश से सीखा हो, पर हमारे वैद्यों ने इस दिशा में बड़ी उन्नति की थी।

---

१. हिंदू एचीवमेंट इत्यादि, पृ० ६५८—५६।

§ ९. धातु शास्त्र

आयुर्वेद के एक विषय का ही अच्छी तरह अध्ययन किया जाय तो अनेक शास्त्रों की ज़रूरत पड़ती है और सब का एक दूसरे के साथ संबंध मालूम पड़ने लगता है। रसायन शास्त्र के आचार्य पतंजलि और नागार्जुन माने गए हैं। पतंजलि का लिखा लोहशास्त्र एक महत्व का ग्रंथ था, जो दुर्भाग्य से अब उपलब्ध नहीं है, पर उसके उद्धरण दूसरे ग्रंथों में जहाँ-तहाँ विद्यमान हैं। नागार्जुन के ग्रंथ चीन में पहुँचे थे और उनके कुछ अंशों का अनुवाद प्राचीन चीनी ग्रंथों में है। पर धातुओं का अध्ययन केवल औषधों के लिए ही नहीं हुआ था। उनसे और काम भी लिए जाते थे। सोने-चाँदी की बात ही छोड़ दीजिए, ये तो बहुत पुराने समय से ही काम में लाए जा रहे हैं, ताँबे और लोहे का इस्तेमाल भी बहुत प्राचीन है। लोहे को शुद्ध बनाने की रीति लोग जानते थे। सीसे, राँगे और जस्ते (यशद) की भी ईजाद पहलेपहल भारत में ही हुई। राँगे के लिए यूनान के महाकवि होमर (लग० ७०० ई० पू०) ने संस्कृत कास्तीर (कतीरा) शब्द का प्रयोग किया है। जस्ते का वर्णन पहलेपहल मदनपाल निघंटु (१३७० ई०) में मिलता है। यूरोप में इस धातु का पता १५४० ई० में लगा था।

ये सब धातुएँ खानों से शुद्ध रूप में तो निकलती नहीं हैं। शुद्ध करने पर ही इनका उपयोग हो सकता है। पत्थर की चट्टानों में लोहे और ताँबे आदि की कच्ची धातें होती हैं। उन्हें उनसे निकालकर और शोधकर उपयोगी बनाना हमारे पूर्वज जानते थे। लोहे में कच्चे और पक्के लोहे का भेद मालूम था और ईस्पात बनाना भी वे लोग जानते थे। कुतुबमीनार

के नज़दीक महरौली के लोहे के स्तंभ का लोहा ऐसा माना जाता है कि उस तरह का शुद्ध लोहा हाल तक कारखानों में नहीं बन पाया था। वह कैसे बना और कौन-सा प्रयोग इसके बनाने में किया गया था कि आज १५०० बरसों से धूप, गर्मी और बरसात के आघातों को सहता हुआ वह ज्यों का त्यों खड़ा है? लोहे के ऐसे हथियार भी बनते थे, जिनका मुकाबला करना कठिन था। ईरानियों ने इसे हिंदुओं से सीखा था और ईरानियों से अरबों ने सीखा। जो तलवार 'दमिश्क की तलवार' के नाम से मशहूर थी, उसका जन्म हिंदुस्तान में ही हुआ था। पिछली शताब्दी में फरगुसन ने लिखा था कि हिंदुस्तान में लोहे के इतने बड़े खंड गढ़े जा सकते थे, जितने बड़े उनके समय के करीब तक यूरोप में नहीं बन सकते थे। महरौली की लाट केवल लोहे की शुद्धता का नहीं, बल्कि इतनी बड़ी लाट तैयार हो सकती है इसका भी एक अद्भुत नमूना है।

धातुओं के अतिरिक्त रत्नों की पहचान के लिए हमारे यहाँ के जौहरी १८ वीं सदी तक दुनियाभर में विख्यात थे। हमारे यहाँ नवरत्नों की गिनती बहुत पुरानी है। भारत के कारीगर उन्हें काट-तराशकर सुंदर से सुंदर आकृति देने और उनमें बारीक से बारीक सूराख करने में अत्यंत निपुण थे। धातुओं की तरह पीस फूँककर रत्नों का भी औषध रूप में प्रयोग यहाँ बहुत प्राचीन है। इस विषय पर १४ वीं सदी का रस-रत्न-समुच्चय नामक ग्रंथ बड़े महत्व का है।

गंधक का बहुत विवेचन आयुर्वेद में किया गया है और इसका अध्ययन भी हमारे रासायनिकों ने पूरा-पूरा किया था। पारे और गंधक के अनेक समासों का प्रयोग आयुर्वेदीय दवाइयों में है। मकरध्वज पूर्णतः पारे का गंधित है, पर आजकल की साधारण रीति से बने हुए पारे के

गंधित में वे गुण नहीं आते, जो मकरध्वज में पाए जाते हैं। आयुर्वेद की प्रक्रिया से मकरध्वज बनाने में वे सब गुण कैसे आ जाते हैं, इसकी व्याख्या आधुनिक विज्ञान भी अभी तक नहीं कर पाया है। अब ऐसा भी अनुमान किया जाने लगा है कि गंधक, शोरे और कोयले के संयोग से बने विस्फोटक पदार्थ 'बारूद' का आविष्कार भी भारतीय था। चीन और अरब ने इसका ज्ञान संभवतः भारत से ही सीखा था। भस्मीकरण (calcination), अधःपातन (distillation), ऊर्ध्व पातन (sublimation), स्वेदन (steaming), स्तंभन (fixation) आदि धातु-शोधन की प्रायः सभी आधुनिक प्रक्रियाएँ हमारे यहाँ ज्ञात थीं,[१] और छठी सदी यानी गुप्त-काल के अंत तक सिर्फ पारे के ही १६ रासायनिक प्रयोग निकाले जा चुके थे। रोम के प्रसिद्ध लेखक प्लिनी ने ईसा पूर्व की पहली शताब्दी में रासायनिक द्रव्यनिर्माण और व्यवसाय में भारत की स्थिति संसार में सर्वोच्च मानी थी। १८वीं सदी ई० के अंत तक भारत की प्रायः वही स्थिति बराबर बनी रही।

§ १०. वनस्पति शास्त्र, कृषि और बागवानी

वनस्पति शास्त्र का भी यहाँ विधिवत् अध्ययन किया गया था और बागवानी का ई० पू० की ७ वीं सदी से भी पहले से आरंभ हो गया था! पौधे किस तरह उगते हैं, कहाँ और कैसे उनको खूराक मिलती है, किस तरह वे मरते हैं, इन सब विषयों का प्रायः उसी प्रकार से अध्ययन किया गया था, जिस तरह से मनुष्य-शरीर का। वृक्षायुर्वेद अथवा भेषज विद्या

---

१. ब्रजेंद्रनाथ शील—पॉज़िटिव साइंसेज़ आफ़ दी एंश्येंट हिंदूज़, पृ० ६७।

नाम से यह विद्या जानी जाती थी और अर्थशास्त्र, अग्निपुराण और बृहत् संहिता में गुल्म-वृक्षायुर्वेदज्ञ उसी को कहा गया है जो बीज के चुनने, मिट्टी चुनने, बीज बोने, बीज उगाने, कलम लगाने, रोपने, खाद, पौधों की चिकित्सा, पौधों की पहचान, पौधों में उन्नति कराना, फसलों का देवढ़ लगाना इत्यादि विषयों का ज्ञान रखनेवाला हो। अब इस वृक्षायुर्वेद और भेषज विद्या के एक-दो ग्रंथ ही मिलते हैं। यह विषय अनेक ग्रंथों में प्रसंगवश भी आया है और उनसे बहुत दूर तक पता लग सकता है कि यह कहाँ तक पहुँचा था। यह कहना अत्युक्ति नहीं है कि बहुत बातें, जो आज आधुनिक विज्ञान के ग्रंथों में मिलती हैं वे, इन ग्रंथों में भी मिलती हैं।

पौधों को हमारे आचार्य जीवधारियों की ही एक किस्म समझते थे। उनमें भी बचपन, यौवन और बुढ़ापा आता है; सोना, जागना, जीविकोपार्जन, भोजन ग्रहण कर बढ़ना, चोट या घाव होने पर उसे भरने का प्रयत्न, रोगी होने पर औषधोपचार से स्वास्थ्यलाभ आदि क्रियाएँ अन्य जीवधारियों की तरह ही होती हैं, इसका निरीक्षण किया गया था। यहाँ तक कि सूर्य और चंद्र-रश्मियों का उनके रस-परिपाक आदि पर कब कैसा प्रभाव होता है, इसकी भी विवेचना हमारे शास्त्रों में मिलती है। वे जानते थे कि पौधे सूर्य से ही शक्ति लेते हैं और खासकर अस्त होते हुए सूर्य की लाल-पीली और नारंगी रश्मियाँ उनके लिए अधिक लाभदायक हैं। बाँझ वृक्षों का बाँझपन दूर करने के उपाय भी बताए गए हैं।

आज जितने प्रकार के धान अथवा दूसरे अन्न देखने में आते हैं, वे बहुत कुछ मनुष्य के परिश्रम और बुद्धि से उस अवस्था में पहुँचाए गए हैं, जिनमें उनको हम आज पाते हैं। यह देखकर हमलोग चकित होते हैं

कि अनेक नए प्रकार के गेहूँ, धान, ऊख के बीज, आधुनिक प्रयोग-शालाओं और प्रयोग-क्षेत्रों में पैदा किए जा रहे हैं, पर यह इससे भी आश्चर्य की बात है कि यह कोई आज की नई चीज नहीं है। हमारे देश के लोग इस विद्या और क्रिया को बहुत कुछ जानते थे। कौन कह सकता है कि ऊख का जन्म अतीत काल में मनुष्य ने उन्हीं पौधों से नहीं दिलवाया था, जो आज भी बाँस और नरकट के रूप में देखे जाते हैं। बीज और कलम सवृक्ष बहुत दिनों से प्रचलित चले आए हैं और यह भेद केवल फलों के लिए ही नहीं, फूलों के लिए और दूसरे पौधों के लिए भी बहुत दिनों से प्रचलित रहा है। कपास की खेती हमारी विशेषता रही है। ई० सन् के आरंभ के कई सौ वर्ष पहले एक यूनानी इतिहासकार ने भारतवर्ष के विषय में आश्चर्यपूर्वक लिखा था कि इस देश में ऊन पेड़ों पर फलता है। आज भी कपास सफेद, लाल और गुलाबी रंग का होता है। आप यह न समझ लें कि ये रंग बिल्कुल नैसर्गिक हैं। जिस तरह आज गुलाब के फूल के रंग को बदला जा सकता है, उसी तरह हमारे पूर्वजों ने कपास के रंग को बदलने की क्रिया की थी। फूलों में सुगंध ला देना, बढ़ा देना, कम कर देना भी वे जानते थे।

§ ११. पशुचर्या

पशुओं का भी ज्ञान प्राप्त किया गया था। उनसे काम लेना बहुत पहले ही भारतीयों ने आरंभ किया था। शालिहोत्र आज भी प्रचलित है। हाथी-घोड़े आदि उपयोगी पशुओं की नस्लों, उनके स्वभावों और रोगों आदि का विशेष अध्ययन किया जाता था। इस विषय के अनेक संस्कृत ग्रंथ आज भी विद्यमान हैं, जिनका विधिवत् अध्ययन होना अभीष्ट है।

अन्य विषयों की तरह पशु-चिकित्सा संबंधी अनेक संस्कृत ग्रंथों का भी अनुवाद अरबी और फ़ारसी में किया गया था। उपयोगी पशुओं के अतिरिक्त जंगली पशु-पक्षियों और कृमियों का अध्ययन भी विधिवत् हुआ था और उनकी विविध किस्मों तथा उनके स्वभाव, रहन-सहन, स्त्री-पुरुष, जीवन, संतति आदि की बारीक छानबीन की जाती थी। इस विषय पर जैन पंडित हंसदेव कृत मृगपक्षिशास्त्र एक बहुत महत्वपूर्ण ग्रंथ है। कृमियों और सरीसृपों के विषय में लाट्यायन नामक एक विद्वान के लिखे ग्रंथ का नाम मिलता है, जिसमें साँपों आदि के अंग-प्रत्यंग पर विचार किया गया था। दुर्भाग्य से वह ग्रंथ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ।[१]

---

१. विशेष विवरण के लिए देखिए 'मध्यकालीन भारतीय संस्कृति' पृ० १२२ प्रभृति।

तीसरा अध्याय

संस्कृत वाङ्मय और कला

भारतवासी केवल विद्याभ्यासी ही नहीं थे। उन्होंने बड़ी चतुरता के साथ कला की उन्नति की थी और व्यापार भी बढ़ाया था। उनका राजतंत्र बहुत उन्नत था। इन सब विषयों का अध्ययन और खोज पिछले डेढ़ सौ बरसों में बहुत हुई और आज इस विषय के अनेकानेक ग्रंथ संसार की प्रायः सभी भाषाओं में लिखे गए हैं। इन सब के मूल आधार संस्कृत और पाली के ग्रंथ ही हैं अथवा शिलालेख, सिक्के और खुदाई में पाई गई वस्तुएँ और सामग्री। इनके ही बल पर हमारा प्राचीन इतिहास भी अब बहुत अंशों में प्रायः पूरा-पूरा तैयार किया गया है और आज अनेक विद्वान् उसके अनजान कोनों में खोज करने में लगे हैं। इसमें पश्चिमीय विद्वानों ने बहुत काम किया है और भारतीय विद्वान् भी अपने अतीत को खोज निकालने में अब किसी से पीछे नहीं हैं। यहाँ उसी का थोड़ा दिग्दर्शनमात्र कराया जा सकता है। राजकीय संस्थाओं और उथल-पुथल का इतिहास तो इतना विस्तृत है कि उसके लिए हजारों पृष्ठों की पुस्तक भी काफ़ी नहीं होती। हमारे वाणिज्य-व्यापार, कला-कौशल और साहित्य-वाङ्मय का इतिहास भी इसी प्रकार हजारों पृष्ठों में लिखा गया है और दिन प्रतिदिन उसका नया मसाला मिलता जाता है और उसका

आकार बढ़ता जाता है। विज्ञान संबंधी कुछ बातें ऊपर कही गई हैं, पर भौतिक ज्ञान के अलावा हमारे पूर्वजों ने आध्यात्मिक ज्ञान चूड़ांत तक पहुँचाया और हमारे दर्शन की सूक्ष्मता और विस्तार तथा सार्वभौमिकता को अभी तक संसार की अध्यात्म विद्या और दर्शन नहीं पहुँच पाए हैं।

इसमें बिहार का, जिसमें मिथिला, मगध और कोशल के पूरबी हिस्से शामिल हैं, बहुत बड़ा भाग रहा है, और यदि यह कहें कि प्राचीन भारत का इतिहास बिहार के इतिहास का ही एक बृहत् आकार है तो अत्युक्ति न होगी। जहाँ तक खोज से पता चलता है, थोड़े शब्दों में उसका सारांश यहाँ देने का प्रयत्न करूँगा। हजारों वर्षों की हालत एक-सी नहीं रही है। उसमें उतार-चढ़ाव हुआ ही है और एक समय की बातें दूसरे समय के लिए ठीक नहीं हैं। तो भी प्राचीन भारत का चित्र खींचा जा सकता है। यहाँ संस्कृत विद्या के आधार पर जो कुछ मिला है, उसी का परिचय दिया जायगा। इसलिए आधुनिक अथवा अर्वाचीन इतिहास को छोड़ देता हूँ। प्रायः मुसलमान विजय के पहले तक का ही दिग्दर्शन होगा।

१. मूर्त्तिकला और स्थापत्य

मूर्त्तिकला, चित्रकला, स्थापत्य और संगीत मुख्य कलाएँ हैं। भारतवर्ष में, जहाँ की अधिकांश जनता आज भी मूर्त्तिपूजक है और किसी न किसी रूप में ईश्वराराधन के लिए मूर्त्तियों की शरण लेती है, मूर्त्तिकला का उद्भव और उन्नति कोई आश्चर्य की बात नहीं है। बहुत प्राचीन काल से इसके नमूने हमको मिले हैं, जिनको देखकर कलाविद् आज भी चकित हो जाते हैं। ये नमूने "सोना, चाँदी, ताँबा, काँसा, पीतल, अष्टधातु आदि सभी प्राकृतिक तथा कृत्रिम धातु, पारे के मिश्रण, रत्न, उपरत्न,

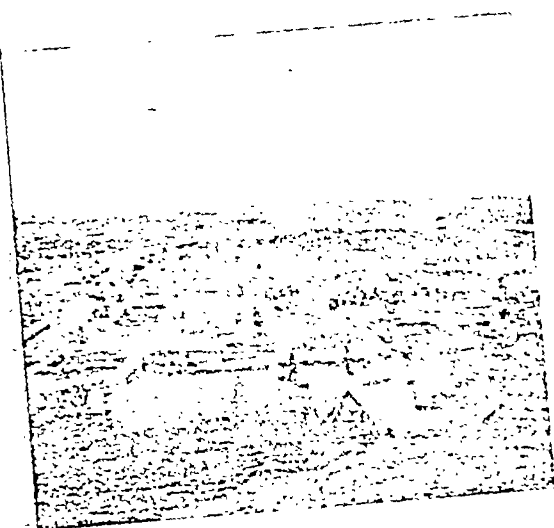
काँच, कड़े और मुलायम पत्थर, मसाले, कच्ची वा पकाई मिट्टी, मोम, लाख, गंधक, हाथी दाँत, शंख, सीप, अस्थि, सींग, लकड़ी एवं कागद के कुट आदि उपादानों को उनके स्वभाव के अनुसार गढ़कर, खोदकर, उभारकर, कोरकर, पीटकर, हाथ से अथवा औजार से डौलियाकर, ठप्पा करके वा साँचा छाप के उत्पन्न"[१] किए हुए हैं ।

"मूर्त्ति बनाने में मनुष्य के मुख्यतः दो उद्देश्य रहे हैं। एक तो किसी स्मृति को वा अतीत को जीवित बनाए रखना, दूसरे अमूर्त को मूर्त रूप देना, अव्यक्त को व्यक्त करना अथवा किसी भाव को आकार प्रदान करना। मूर्त्तिकला में ऐतिहासिक मूर्त्तियाँ पहले सिरे के अंतर्गत और धार्मिक तथा कलात्मक मूर्त्तियाँ दूसरे सिरे के अंतर्गत हैं। वस्तुतः आध्यात्मिक भावना में—उपासना में—जो अतींद्रिय बुद्धिग्राह्य, आत्यंतिक सुख प्राप्त होता है वा रागात्मक अभिव्यक्ति में जो लोकोत्तर सुख है, वह और कुछ नहीं, निराकार को, बुद्धिग्राह्य को अर्थात् भाव को साकारता प्रदान करना है। दूसरे शब्दों में मूर्त्ति, चित्र, कविता वा संगीत को रूप में परिवर्तित करना है। हमारे देश की मूर्त्तिकला ने मुख्यतः इसी दूसरे लक्ष्य की ओर अपना सारा ध्यान रक्खा है। भौतिक रूप का निदर्शन करके तात्विक रूप का दर्शन ही उसका उद्देश्य रहा है।"

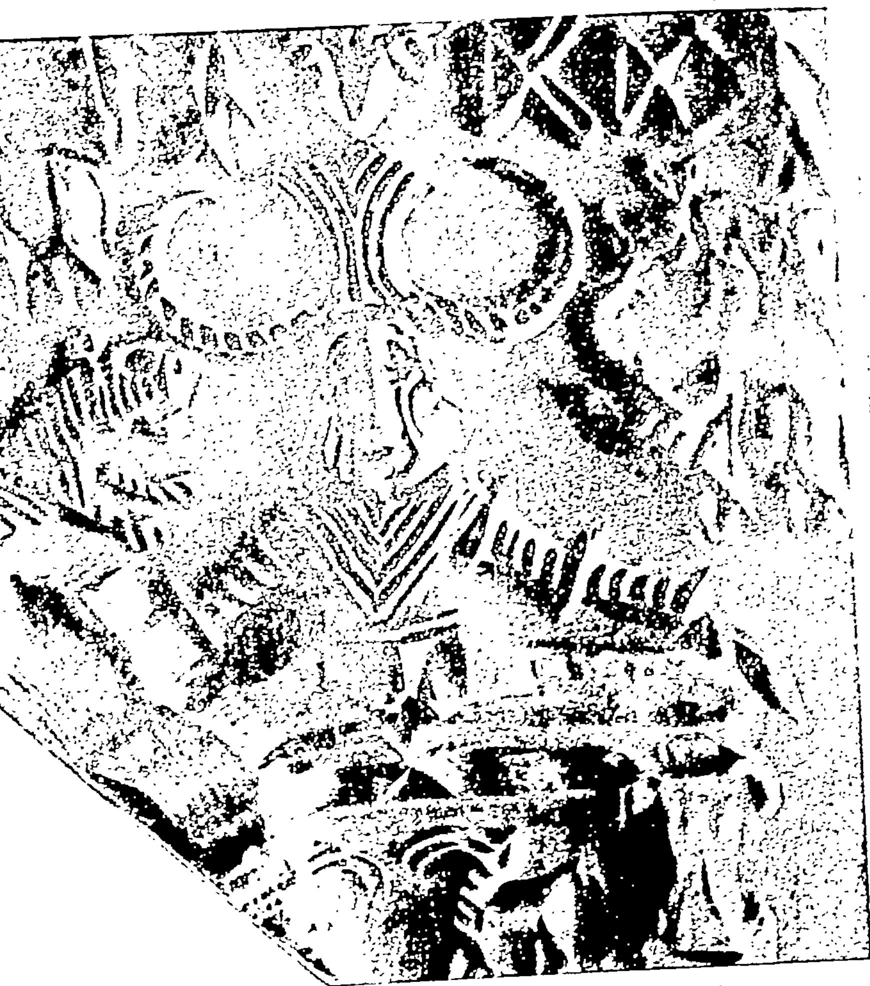
इसके सबसे पुराने नमूने हाल की खुदाई में मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा के प्राचीन नगरों के ध्वंसावशेष में मिले हैं। मिट्टी की, पत्थर की तथा ताँबे

---

१. राय कृष्णदास—भारतीय मूर्त्तिकला (काशी, १९९६) पृ० १–२, ४–५, कुछ शाब्दिक हेरफेर के साथ। आगे का विवेचन भी उसी ग्रंथ के आधार पर है।



(भारतीय पुरातत्त्व विभाग)



मोहेंजोदड़ो की एक मुद्दर पर पशुपति शिव का पूर्वरूप
(भा० पु० वि०)

की मूर्त्तियाँ और सब के ऊपर ठिकरे भी वे बहुत छोड़ गए हैं। वे ठिकरे हाथी दाँत के तथा नीले व उजले रंग के एक प्रकार के काँच के हैं। इन पर डीलवाले और बेडीलवाले बैल, हाथी (जिस पर झूल के कारण जान पड़ता है कि वह सवारी के काम में आता था), बाघ और गैंडे की तथा पीपल के पत्तों की एवं अनेक प्रकार की अन्य आकृतियाँ मिलती हैं और चित्रलिपि के, एक पंक्ति से तीन पंक्ति तक के, उभरे हुए लेख भी होते हैं। इस सिंध काँठे की सभ्यता में अकीक के मनकों पर एक विशेष प्रकार के सफेद रंग की धारियाँ, बिंदु तथा अन्य प्रकार की तरह बनाने का हुनर था। जो मूर्त्तियाँ मिली हैं, उन पर गहने भी हैं। सबसे बढ़कर मोहेंदोजड़ो की एक मिट्टी की मुहर पर आसन लगाए एक ध्यानस्थ मूर्त्ति है, जो शिव की है और बुद्ध की मूर्त्ति का निर्विवाद पूर्व रूप है।

इस मूर्त्ति से प्रतिपादित होता है कि उस समय भी और उन जातियों में भी योगसाधन विद्यमान था। सभी विद्वान् इस बात को मानने लगे हैं कि वैदिक समय में भी मूर्त्तियाँ होती थीं।

"भारत में अब तक ऐतिहासिक काल की जो सबसे पुरानी मूर्त्तियाँ मिली हैं, वे शैशुनाक वंश (७२७—३६६ ई० पू०) के कई राजाओं की हैं, जैसा कि उन पर खुदे नामों से विदित होता है। उस समय भारतवर्ष १६ महाजनपदों में या बड़े-बड़े प्रदेशों में बँटा हुआ था, जिनमें कहीं गणतंत्र (पंचायती) और कहीं राजतंत्र शासन-प्रणाली चलती थी। मगध इन सब में प्रबल पड़ता था। उक्त शैशुनाक मूर्त्तियों में सबसे पुरानी अजातशत्रु की है, जो बुद्ध का तुल्यकालीन था और ५५२ ई० पू० में गद्दी पर बैठा था।......अजातशत्रु की मृत्यु ५२५ ई० पू० में हुई थी। अतएव यह मूर्त्ति (ऊँचाई ६—८") उसी वर्ष की या उससे एकाध

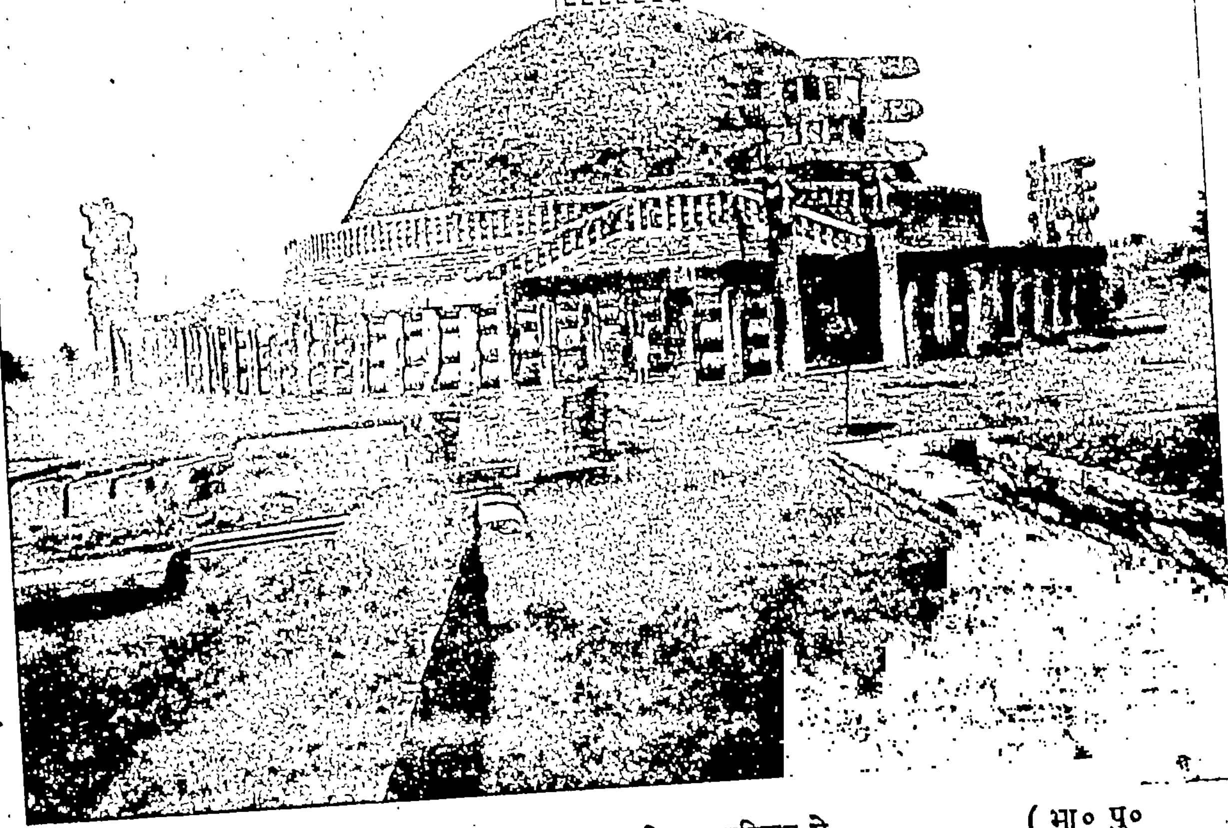
साल इधर की होनी चाहिए,.....अजातशत्रु के पोते अज उदयी (जिसने पाटलिपुत्र बसाया और जिसकी मृत्यु ४६७ ई० पू० में हुई थी) तथा उसके बेटे नंदिवर्द्धन (मृत्यु ४१८ ई० पू०) की मूर्त्तियाँ कलकत्ता संग्रहालय में संगृहीत हैं। ये पटने के पास मिली थीं।

"ये तीनों मूर्त्तियाँ एक ही शैली की हैं तथा आदमी से भी ऊँची-पूरी हैं। इनकी शैली इतनी विकसित है कि उसका आरंभ ई० पू० ६ ठी सदी से कई सौ वर्ष पहले मानना पड़ेगा। इस शैली में काफ़ी वास्तविकता है।[१]"

"शैशुनाक वंश के बाद मगध में नंद वंश का साम्राज्य हुआ (३६६ से ३२६ ई० पू०)। पीछे यह वंश बहुत अत्याचारी हो उठा था। चाणक्य के पथ प्रदर्शन में चंद्रगुप्त मौर्य (३२५—३०२ ई० पू०) ने इस अत्याचार से राष्ट्र का उद्धार किया और मौर्य राजवंश की स्थापना की। चाणक्य के अर्थशास्त्र से मालूम होता है कि उस समय शिल्पियों की श्रेणियाँ अर्थात् पंचायतें होती थीं।" इन श्रेणियों की संख्या १८ बताई गई है, जिनमें बढ़ई, कर्मार, चित्रकार, चर्मकार आदि शामिल थे। चंद्रगुप्त के दरबार में ग्रीक राजदूत मेगास्थनेस् रहता था। उसने उस समय के भारत का वर्णन लिखा है, जिससे पता चलता है कि चंद्रगुप्त का विशाल प्रासाद एशिया के प्रसिद्धतम प्रासादों को भी मात करता था। मूर्त्तिकला का वास्तु से विशेष संबंध रहा है, क्योंकि अच्छे भवनों पर मूर्त्तियाँ और नक्काशी अवश्य रहती थी और दूसरी ओर मूर्त्तियों की स्थापना के लिए बड़े-बड़े और उच्च कोटि के भवनों का निर्माण किया जाता था।

---

१. वहीं, पृ० १३—१४।



साँची का बड़ा स्तूप, दक्खिन–पच्छिम से

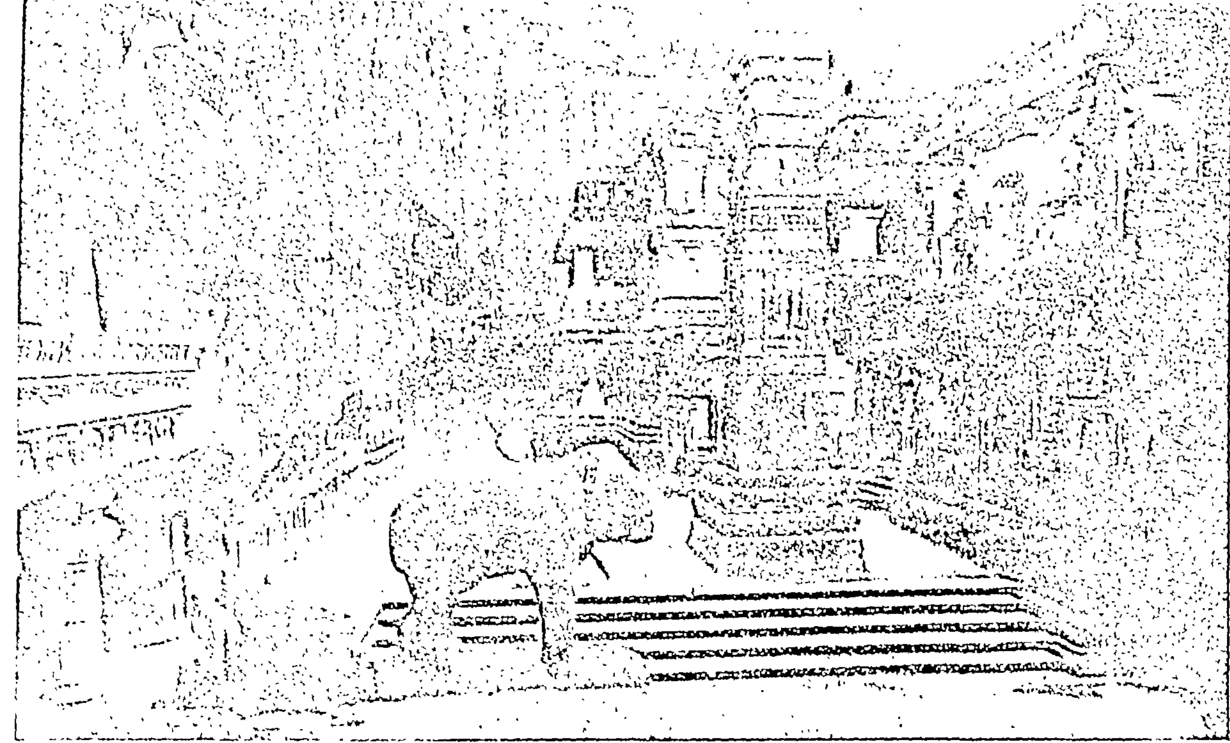
(भा० पु०

मौर्यकाल के लोक-प्रसिद्ध राजा अशोक ने शिलास्तंभों पर अपने संदेश खुदवा दिए थे। ये स्तंभ कला में उतना ही महत्व रखते हैं, जितना उन पर के लेख। अशोक के १२ स्तंभ मिले हैं और दूसरे चार स्तंभों का जिक्र मिलता है। पर शायद उनकी संख्या इससे अधिक थी। ये स्तंभ चुनार के पत्थर के हैं और केवल दो भागों में बने हैं। इन पर ऐसा ओप किया हुआ है कि आँख फिसलती है। यह ओप ऐसी विशेषता है, जो संसार में अपना जोड़ नहीं रखती। ये स्तंभ तीस-तीस चालीस चालीस फुट के हैं और हजार-हजार, बारह-बारह सौ मन के होंगे। ये किस प्रकार अपने स्थान पर पहुँचाए गए, गढ़े-चमकाए गए सो आश्चर्य का विषय है। इन स्तंभों के ऊपर एक परगहा रहता है, जो पत्थर के दूसरे टुकड़े से बना होता है; उसमें एकहरी या दोहरी मेखला पर लौटी हुई कमल-पँखड़ियों की बैठकी, उसके ऊपर कंठा और तब चौखूँटी चौकी और उसके सिरे पर पशु आसीन होते हैं। कारीगरी की छटा उन जानवरों की मूर्त्ति में देखने में आती है। ये इतनी सुंदरता और सजीवता के साथ बनाए गए हैं कि संसारभर में कहीं भी प्रस्तरकला इनसे आगे नहीं बढ़ी है। इनमें ऐतिहासिक घटनाओं का अंकन बड़ी सुंदरता और भावुकता के साथ किया गया है। अशोककाल की दूसरी मूर्त्तियाँ भी मिली हैं, जो मूर्त्तिकला का अद्वितीय नमूना हैं।

साँची और भरहुत की मूर्त्तियों पर देवसभा, राजगृह और नागरिकों के घर बने हुए हैं। जो सामग्री मिली है, उसके अध्ययन से पता चलता है कि उस समय के रहने की इमारतों में ईंट-पत्थर और लकड़ी तीनों का उपयोग होता था। उनकी कुर्सी ईंट की, खंभे पत्थर के, सायबान और पाटन तथा ऊपर के मंडप लकड़ी के होते थे। मकान सात-सात खंड तक

के होते थे। अशोक का बनवाया सौ फुट ऊँचा एक स्तूप काफिरिस्तान (जिसका पुराना नाम कपिश है) की राजधानी में ६ठी सदी तक खड़ा था और ऐसा ही एक दूसरा स्तूप ३०० फुट ऊँचा काबुल-पेशावर के बीच निग्रहार में था। गया जिले में बराबर पहाड़ियों में अशोक के पोते दशरथ ने गुफाएँ बनवाई थीं। वे उस तेलिया पत्थर की हैं, जिसका काटना असंभव-सा है; परंतु वे केवल काटी ही नहीं गई हैं वरन् उनकी भीतों पर काँच सरीखी ओप भी की गई है, जिसमें आज भी आप अपना मुंह देख सकते हैं। उस समय की असंख्य मृण्मूर्त्तियां भी मिल रही हैं, जो कला की दृष्टि से बड़ी उत्कृष्ट हैं।

मूर्त्तियों और गुफाओं के अतिरिक्त बौद्धों और जैनों के स्तूप और देवमंदिरों के नमूने मिले हैं। चाणक्य के अर्थशास्त्र में नगर में कई देवताओं के मंदिर बनाने का विधान है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि मंदिरों की परंपरा चाणक्य के पहले से चली आती है और मंदिर–वास्तु का स्वतंत्र एवं प्राचीनतर विकास मानना पड़ता है। मंदिर–वास्तु का विशेष अंग शिखर होता है। हिंदुओं की भावना में देवताओं का मुख्य निवास पर्वतों पर है, और इसी कल्पना में शिखर का जन्म है। इस प्रकार उस पुराने युग के भी कला–इतिहास में मृण्मूर्त्तियां, प्रासाद, गुफा–मंदिर इत्यादि को विशेष स्थान मिला है। इनमें से एक–एक का वर्णन किया जाय तो बहुत स्थान और समय लगेगा। यहाँ इतना कह देना काफी होगा कि ये सब कलापूर्ण और भावपूर्ण तो हैं ही, पर इसके अलावा इनके द्वारा इतिहास बताने की भी शैली चली हुई थी। बुद्ध की जीवनी और उनके पूर्व जन्मों के अनेक दृश्य बड़ी सजीवता से अंकित किए गए हैं। हाथी दांत की नक्काशी के भी सुंदर नमूने मिले हैं। इस समय का



कैलाश मंदिर वेरूल का भीतरी दृश्य (हैदराबाद पु० वि०)

समाज-जीवन भी सुंदरता के साथ उनमें अंकित है।

मौर्य काल से आज तक यह कला विस्फुरित होती रही है। विद्वानों ने भारत के उत्तर, दक्खिन, पूरब, पच्छिम के अनेक स्थानों के नमूनों का बहुत बारीकी के साथ अध्ययन किया है। बुद्धदेव की बहुत-सी मूर्त्तियाँ अनेक मुद्राओं में मिली हैं। इनके अतिरिक्त सनातन देवताओं की भी मूर्त्तियाँ मिलती हैं, जो कला की दृष्टि से अपना जोड़ नहीं रखतीं। हिंदू मंदिरों में भी पौराणिक कथाएँ उसी प्रकार मूर्त्तियों-द्वारा अंकित मिलती हैं, जिस तरह बुद्ध-जीवनी बौद्ध मंदिरों में। उस समय के सुंदर और विशाल मंदिर या उनके खंडहर आज तक मिलते हैं, जो वास्तु विद्या कहाँ तक पहुँची थी, इसका पता बताते हैं। हमारे पूर्वजों ने स्थापत्य का बहुत अच्छा विवेचन किया था और जिन सामग्रियों और मसालों से उस वक्त भी इमारतों, मंदिरों और मूर्त्तियों का निर्माण किया था, वे आज भी अचरज पैदा करनेवाले हैं। वज्रलेप तो एक प्रख्यात चीज़ है। आज एंजीनियरिंग विद्या बहुत तरक्की कर गई है, पर अभी यह अचंभे की बात है कि हमारे पूर्वजों ने इतने बड़े-बड़े और इतने स्थायी मंदिर उन साधनों के बिना ही, जो आज उपलब्ध हैं, कैसे बनाए।

महाराष्ट्र के वेरूल नामक स्थान में, जिसे अंगरेजी में एलोरा लिखते हैं, " एक पूरी की पूरी पहाड़ी काटकर मंदिरों में परिवर्तित कर दी गई है। उनमें कहीं चूने-मसाले वा कील-काँटे का नाम नहीं है। मंदिरों की संख्या पचीस-तीस से अधिक है। ब्राह्मण मंदिरों के अतिरिक्त बौद्ध एवं जैन मंदिर भी हैं। इनका समय आठवीं सदी है। इनमें से कैलाश नामक ब्राह्मण-मंदिर सबसे विशाल और सुंदर है। इसके सभी भाग निर्दोष तथा कलापूर्ण हैं। अपनी जगह पर यह तनकर खड़ा है एवं आस-पास के पहाड़ों

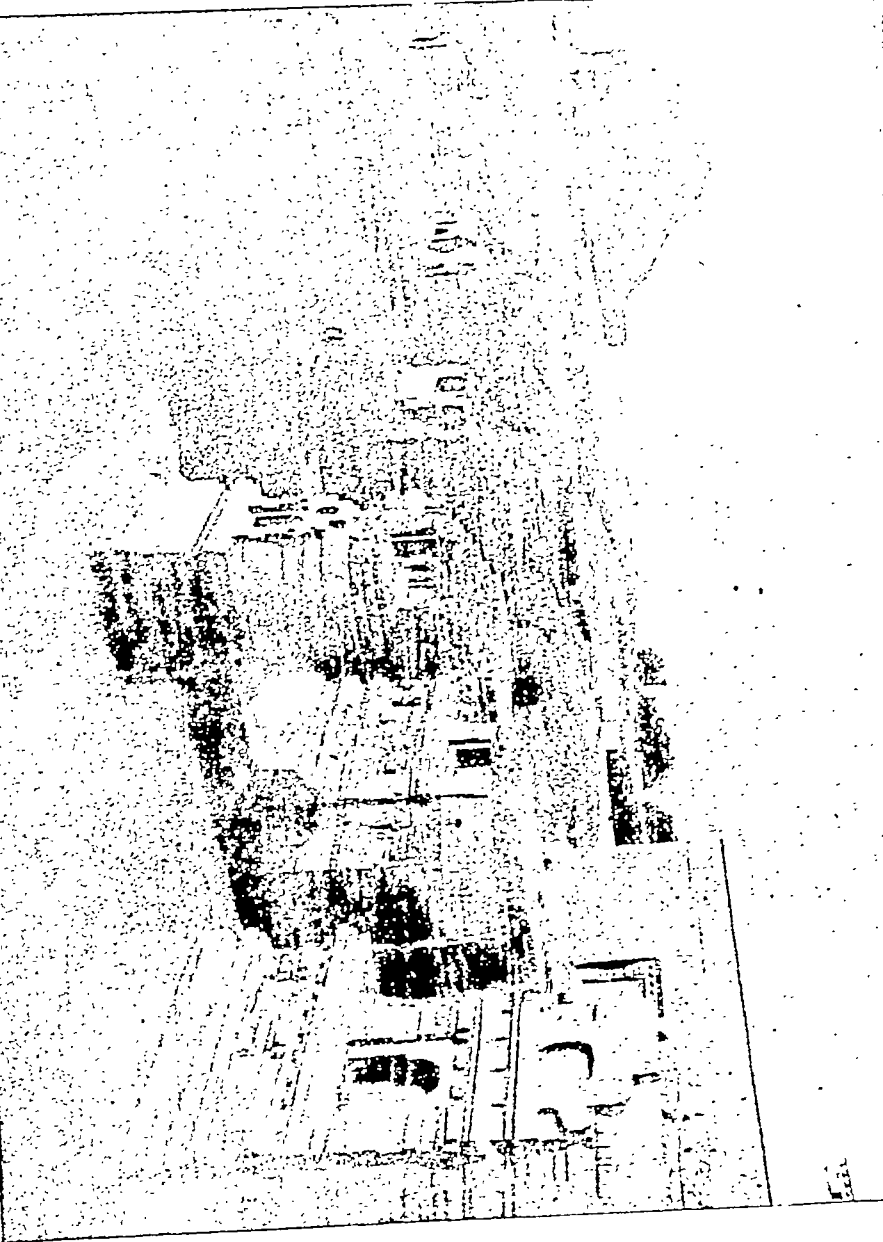
से, चारों ओर फैले हुए (लगभग ढाई सौ फुट गहरे और डेढ़ सौ फुट चौड़े) विशाल अवकाश द्वारा असंबद्ध है। उक्त विस्तृत आँगन में जो प्रकृति की नहीं, मनुष्य की कृति है, पहुँचकर दर्शक आश्चर्य से विजृंभित रह जाता है। इसी आँगन में यह अद्वितीय मंदिर है, जिसकी लंबाई कोई एक सौ बयालीस फुट है, जिसमें उत्कृष्ट द्वार, झरोखे, सीढ़ियाँ तथा सुंदर खंभों की पंक्तियाँ बनी हुई हैं। इनके लिए पहाड़ की जो जगह खोखली की गई है, उससे बढ़कर मनुष्य के धैर्य, परिश्रम और लगन के बहुत कम उदाहरण मिलेंगे। मसाले और उपकरण जुटाकर बड़ी से बड़ी इमारत खड़ी करने की कल्पना तो हम कर सकते हैं, किंतु यह काम कैसे बना होगा, इसे सोचते ही छक्के छूट जाते हैं! गुफाएँ काटना भी तादृश कठिन नहीं, जितना कि एक पहाड़ में, बिना किसी लगाव के, दुमंजिली-तिमंजिली इमारत को तराश डालना। कैसा विलक्षण काम है! इसी से मिले हुए, खंभों की नियमित पंक्तियों पर आधृत, तीन सुंदर प्रतिमा-मंडप हैं। इनमें बयालीस पौराणिक दृश्य उत्कीर्ण हैं। रावण कैलाश को उठा रहा है; भयत्रस्त पार्वती शिव के विशाल भुजदंड का अवलंब ले रही हैं। उनकी सखियाँ भाग रही हैं, किंतु भगवान शिव अटल-अचल हैं और अपने चरण से कैलाश को दबाकर रावण का श्रम निरर्थक कर रहे हैं। मंदिर के बाहरी अंश के एक कोने में त्रिपुर-दाह का बड़ा जोरदार अंकन है!"[१]

तक्षशिला की खुदाई में जो सारे नगर का भग्नावशेष मिला है, उसके देखने से पता चलता है कि केवल रहने के लिए भवन ही नहीं

---

१. वहीं, पृ० १०६ १०८।

तक्षशिला के भग्नावशेष, दक्खिन-पच्छिम से (भा० पु० वि०)



बल्कि सड़कों, रास्तों और शहर के पानी को निकालने के लिए मोरियों को कितनी खूबी के साथ बनाया गया था। इसी प्रकार अपने सूबे में नालंदा की खुदाई में तैयार भवन निकला है, जिसमें सुंदर मूर्त्तियाँ अभी भी विद्यमान हैं। वहाँ दीवार पर एक हिरन का चित्र इस खूबी के साथ बना है कि देखते ही बनता है। पुरी में श्री जगन्नाथ का मंदिर एक सुंदर नमूना है, जिससे बड़ी-बड़ी इमारतों के बनाने का ढंग देखने में आता है। इतनी बड़ी-बड़ी पत्थर की चट्टानों को किस प्रकार गढ़कर अपने-अपने स्थान पर पहुँचाया गया और कैसे उनको ठीक बैठाया गया, यह एक अत्यंत मनोरंजक और आश्चर्य का विषय है। भुवनेश्वर में बड़े मंदिर के अतिरिक्त एक छोटा मंदिर है, जिसकी दीवारों पर बहुत मूर्त्तियाँ हैं। इनमें हर एक मूर्त्ति ऐसी सुंदर और कलापूर्ण बनी है कि देखकर चाहता है कि आदमी उन्हें देखता ही रहे। पर दुःख की बात है कि एक मूर्त्ति भी पूरी साबित नहीं है—प्रत्येक का अंगभंग हो चुका है। दक्खिन में विजयनगर के भग्नावशेष देखने देश-विदेश के लोग जाया करते हैं और आज भी जो बड़े-बड़े प्रख्यात मंदिर खड़े हैं, उनके बनानेवाले कैसे स्थापत्य विशारद थे, यह देखने से पता चलता है। मैंने जिन चीज़ों का जिक्र किया है, वे सब हिंदुओं के समय की हैं। मुसलमानों के समय की चीज़ों का ज़िक्र यहाँ नहीं करता, क्योंकि मैं यहाँ संस्कृत विद्या का ही विवेचन कर रहा हूँ। मूर्त्तिकला और स्थापत्य अथवा वास्तुविद्या के कितने ग्रंथ अभी उपलब्ध हैं और कितनों का आज अध्ययन किया जाता है? आज हम पंडितों से केवल यही जानना चाहते हैं कि घर गणना में ठीक है वा नहीं, और मुख्यतः दो ही बातों पर ध्यान देते हैं—उत्तर से दक्खिन की लंबाई पूरब से पच्छिम तक की लंबाई से ज्यादा होनी चाहिए और

दक्खिन और पच्छिम की ऊँचाई उत्तर और पूरब से ज्यादा होनी चाहिए। इसमें भी तथ्य है, पर और सब तो हम भूल गए हैं और इस विद्या का अभ्यास प्रायः छूट ही गया है।

§ २. चित्रकला

इसी प्रकार चित्रकला भी एक प्राचीन और उन्नत कला भारतवर्ष में रही है। राय कृष्णदासजी अपनी "भारत की चित्रकला"[१] नामक पुस्तक में पृ० ४-५ पर लिखते हैं :—

"ऋग्वेद (१।१४५) में चमड़े पर बने अग्नि के चित्र की चर्चा है। इससे हमारी चित्रकला की परंपरा उस काल से प्रमाणित होती है। पाणिनि ने संघ-राज्यों (पंचायती राज्यों) के अंक और लक्षणों की चर्चा की है। इन लक्षणों से उन राज्यों के चिह्नों का मतलब है जो पशु, पक्षी, पुष्प, वृक्ष या नदी-पर्वत आदि होते थे। इसी प्रकार उन्होंने पशुओं को चिह्नित करने के लिए कुछ लक्षणों की चर्चा की है। ये सब लक्षण बिना रेखांकन (ड्राइंग) के नहीं बन सकते। अतएव पाणिनि के समय में अर्थात् ई० पू० ८ वीं सदी में भी चित्रों का पर्याप्त प्रचार रहा होगा। बुद्ध के समय में चित्रकला का इतना प्रचार था कि उन्हें अपने अनुयायियों को उसमें न प्रवृत्त होने की आज्ञा देनी पड़ी। ३री ४थी सदी ई० पू० के बौद्ध ग्रंथ विनय पिटक तथा थेर-थेरी गाथा में चित्रों का उल्लेख है, किंतु उस समय के नमूने अभी तक नहीं मिले हैं। केवल एक नमूना मिला है,

---

१. काशी, संवत् १९९६ वि० में प्रकाशित।

जो न मिलने के बराबर है। परंतु ई० पू० दूसरी सदी और उसके बाद से चित्रों के उल्लेखों और नमूनों की संख्या बढ़ने लगती है।"

"वात्स्यायन के काम-सूत्र पर यशोधर नामक एक प्राचीन विद्वान् ने टीका की है। उसमें चित्रकला की व्याख्या करते हुए उसने पहले का एक श्लोक उद्धृत किया है, जिसमें चित्रकला के छः अंग बतलाए गए हैं, यथा—१-रूपभेद, २-प्रमाण, ३-भाव, ४-लावण्य योजना, ५-सादृश्य तथा ६-वर्णिकाभंग।"

प्राचीन काल में हमारे देश में मुख्यतः तीन प्रकार के चित्र बनते थे—भित्तिचित्र, चित्रपट और चित्रफलक।

भित्तिचित्र दीवारों पर बनाए जाते थे, जिनका सबसे अच्छा नमूना अजंता की चित्रावली है।

चित्रपट कपड़े और संभवतः चमड़े पर भी बनाए जाते थे, लपेट-कर रखे जाते थे अथवा दीवारों पर टाँगे जाते थे।

चित्रफलक लकड़ी, कीमती पत्थर और हाथी दाँत पर बनाए जाते थे।

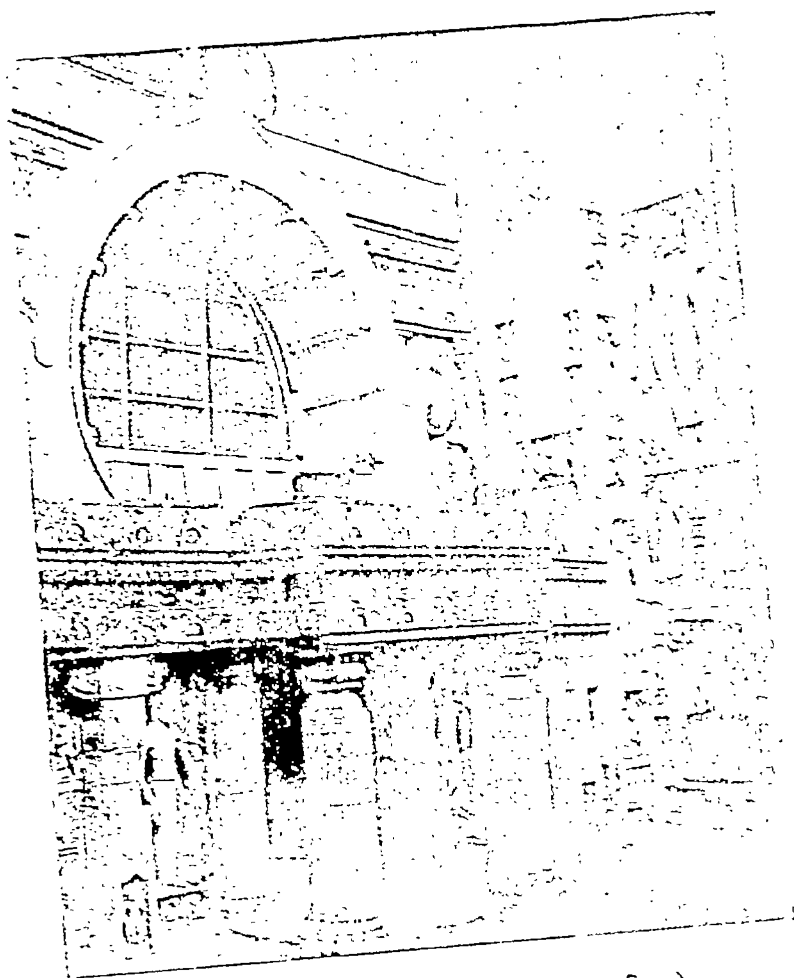
इनके सिवा धूलिचित्र भी बनाए जाते थे, जिनकी वंशज आजकल की साँझी (मराठी राँगोली) है, जो हमारे यहाँ शुभ अवसर पर चौक पूरने की प्रथा के रूप में बची है। इसमें भाँति-भाँति के रंगों के चूर्ण को ज़मीन पर बुरककर आकृतियाँ—मुख्यतः आलंकारिक—अंकित की जाती हैं।

" धार्मिक अभिव्यक्ति के सिवा प्राचीन काल में चित्रों के मुख्य उपयोग ये जान पड़ते हैं—१. ऐतिहासिक दृश्यों का संरक्षण, २. जीवन

की घटनाओं का संरक्षण, ३. रसों का उद्दीपन, ४. प्रेम की अभिव्यक्ति, ५. पति-पत्नी का चुनाव तथा विवाह-संस्कार की संपन्नता एवं ६. घरों का अलंकरण। इनके सिवा संकेतचित्र भी बनते थे, जिनका उपयोग पूजा इत्यादि धार्मिक कृत्यों में होता था, अतएव उन्हें धार्मिक चित्रों के अंतर्गत रखना होगा। उन चित्रों में मूर्त्तियाँ न बनाकर उपास्य देवता के प्रतीकों से उनकी अभिव्यक्ति कर दी जाती थी।"

इस विषय पर विचार करने के लिए उन नमूनों और ग्रंथों का अध्ययन करना चाहिए, जो आज भी उपलब्ध हैं। भारतवर्ष और सिंहल में अनेक गुफाएँ हैं, जिनमें सुंदर से सुंदर चित्र बने हैं। यहाँ पर केवल एक का कुछ वर्णन कर देना काफी होगा। वह है अजंता की गुफा, जो सबसे सुंदर मानी जाती है। राय कृष्णदासजी के शब्दों में ही उसका वर्णन देता हूँ—

"अजंता में छोटी-बड़ी कुल उनतीस गुफाएँ हैं। इनके दो भेद हैं— एक स्तूप-गुफा, दूसरी विहार-गुफा। स्तूप-गुफा में केवल प्रार्थना या उपासना की जाती थी। इसलिए वह अधिक लंबी होती है और उसके अंतिम छोर पर एक स्तूप होता है, जिसके चारों ओर प्रदक्षिणा करने भर का स्थान होता है। वहाँ से द्वार तक दोनों ओर खंभों की पंक्ति रहती है। अजंता की १६ वीं गुफा वहाँ की सबसे बड़ी-स्तूप गुफा है और उसका द्वार बड़ा ही भव्य एवं रमणीय है। विहार-गुफा भिक्षुओं के रहने और अध्ययन के लिए होती थी। ये दोनों प्रकार की गुफाएँ और इनमें का सारा मूर्त्तिशिल्प एक ही शैल में कटा हुआ है। किंतु क्या मजाल कि कहीं पर एक छेनी भी अधिक लगी हो। इस दृष्टि से सभी गुफाएँ अत्यंत उत्कृष्ट हैं, किंतु गुफा नं० १ का, जो एक सौ बीस फुट तक भीतर काटी



अजंता १९वीं गुफा का सिंहद्वार (हैदराबाद पु० वि०)

गई हैं, कौशल तो एक अचंभा है। प्रायः सभी गुफाओं में चित्र बने हुए थे, जिनमें से १, २, १६ और १७ वीं गुफाओं के चित्रों के विशेष अंश बचे हैं। सौभाग्यवश ये सभी गुफाएँ गुप्तकाल की हैं। शेष गुफाओं में कहीं किसी का सुंदर मुख, कहीं खंडित हाथ-पैर, कहीं घोड़े हाथी या उनके सवारों के अंग इत्यादि बच गए हैं।

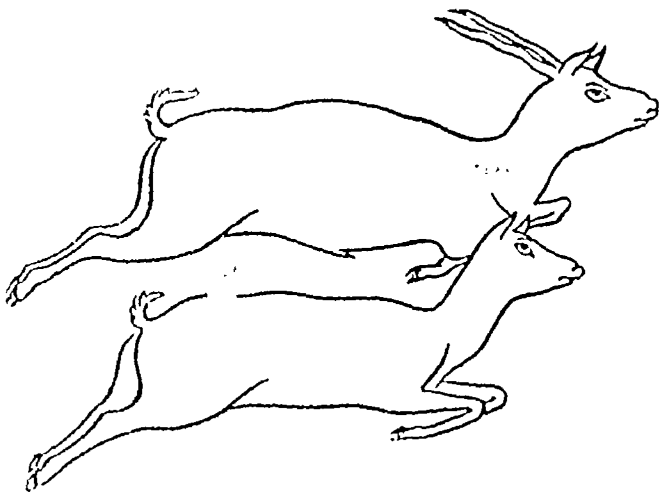
"इन चित्रों की तैयारी की खुलाई (रूपरेखा) बहुत जोरदार, जानदार और लोचदार है। उसमें भाव के साथ साथ वास्तविकता है, एवं उसमें चीन की तथा उससे उत्पन्न जापानी और ईरानी चित्रकारी की वे सपाटेवाली कोणदार रेखाएँ नहीं हैं, जिनका उद्देश्य भाव की अभिव्यक्ति के बदले अलंकरण ही होता है। रंगों की योजना प्रसंगानुकूल बड़ी आढ्य और चित्ताकर्षक है—कहीं फीके या बेदम रंग नहीं लगे हैं। आवश्यकतानुसार उनमें विविधता भी है। यथोचित हलका साया लगाकर चित्रों के अवयवों में गोलाई, उभार, गहराई (डौल) दिखाई गई है। हाथ-पाँव, आँख और अंगभंगी की भाषा से अर्थात् भाव बताने की भाषा से, दूसरे शब्दों में हाथ की मुद्राओं से, आँख की चितवनों से और अंगों के लचाव तथा ठवन से अधिकांश भाव व्यक्त हो जाते हैं।

"यद्यपि इन चित्रों का विषय सर्वथा धार्मिक है और इनमें वह विश्व-करुणा अथ से इति तक पिरोई हुई है, जो भगवान् बुद्ध की भावना का मूर्त्त रूप है, फिर भी जीवन और समाज के सभी अंगों और पहलुओं से इनकी इतनी एकतानता है कि वे सभी अंग और पहलू इनमें पूरी सफलता से अंकित हुए हैं। इतना ही नहीं, सारे जगत् से यहाँ के कलाकारों की पूर्ण सहानुभूति है और उन सब को उन्होंने पूरी सफलता से अंकित किया है।

"मनुष्यों के रूपों के भेद और उनका आभिजात्य दिखाने में चित्रकारों ने कमाल किया है, अर्थात् भिक्षुक ब्राह्मण, वीर सैनिक, देवोपम सुंदर राजपरिवार, विश्वसनीय कंचुक और प्रतिहार, निरीह सेवक, क्रूर व्याध, निर्दय वधिक, प्रशांत तपस्वी, साधुवेशधारी धूर्त्त, कुलांगना, वारवनिता, परिचारिका आदि के भिन्न-भिन्न मुख-सामुद्रिक और अंग-कद की कल्पना उन्होंने बड़ी मार्मिकता से की है। क्रोध, प्रेम, लज्जा, हर्ष, उत्साह, घृणा, भय, चिंता आदि भाव भी इसी प्रकार खूबी से दरसाए गए हैं।

"यदि कलावंत ने सौंदर्य की पूर्ण अभिव्यक्ति की है तो विरूप और भयंकर का आलेखन भी उसी सहानुभूति के साथ किया है, अर्थात् उसके लिए सुरूप और विरूप दोनों में ही समान सौंदर्य है। इस कला में ओज और सौकुमार्य दोनों ही की, समान सफलता के साथ व्यंजना हुई है। सबसे विशिष्ट बात यह है कि इसमें कहीं से भी अनावश्यक अलंकरण छू नहीं गया है; क्या चित्रस्थ पात्रों की वेश-भूषा और क्या खंडहर (रिक्त-स्थान) की पूर्त्ति के लिए जो तरहें बनी हैं उनमें।

"तरहों की तो अजंता खान है। छतों में आकाश के अभिप्रायवाले फुल्ल महाकमलों के चौके, जिनके चारों कोनों पर दिगंतों में अंतरिक्ष-विहारी देव-योनि बने हैं, पचासों प्रकार के होंगे। कमल के जंगल की बेलें, कमलों की मुर्रियाँ, आलंकारिक पत्ते की पूँछवाली गौओं की लपेटदार बेल, गोमूत्रिका, झालर, वंदनवार आदि न जाने कितनी ही प्रकार की तरहों से यह चित्रसारी भरी हुई है। उनमें स्थूल एवं खर्व मानवों; हाथी, बैल, हंस आदि पशु-पक्षियों; आम इत्यादि फलों; रेखाओं और वृत्तों की ज्यामितिक आकृतियों का स्थान-स्थान पर उपयोग किया गया है, किंतु प्रधानता कमल की है, जो अनेक रूप होकर सर्वत्र व्याप्त है।"



अजंता. हिरणों की जोड़ी ('भारत की चित्रकला' से)



अजंता की एक तरह ('भारत की चित्रकला' से)

इस लंबे उद्धरण से एक मुख्य स्थान के चित्रों का कुछ ज्ञान हो जायगा। इस प्रकार के और नमूने भी मिले हैं, जिन सब का वर्णन करना अनावश्यक है। यहाँ इतना ही कहना काफी है कि भारतीय कला केवल भारत में ही नहीं रही, वह विदेशों में भी गई और पूरब में बर्मा, कोरिया जापान, चीन और जावा, बोर्नियो द्वीपों में गई और उसी तरह पच्छिम में ईरान, लघुएशिया और अरब तक उसका प्रभाव व्याप्त हुआ।

चित्र संबंधी वाङ्मय भी मिला है। राय कृष्णदासजी ने विष्णु धर्मोत्तरपुराण के चित्रसूत्र नामक अंश का अभिलषितार्थ चिंतामणि, मानसार, शिल्परत्न और समरांगन सूत्रधार आदि ग्रंथों में चित्र शास्त्र संबंधी अध्यायों का उल्लेख किया है, जिनमें इस कला का पूरा विवेचन किया गया है।

§ ३. संगीत, नृत्य और नाट्य कला

संगीत, नाटक और नृत्य तीनों मिली-जुली कलाएं हैं। संगीत का आरंभ आदिकाल से ही है। सामवेद संगीत का भांडार है। जिस प्रकार इस कला की उन्नति हमारे पूर्वजों ने की है, वह आज भी एक अद्भुत चीज़ है। राग-रागिनी का आविष्कार, समय के साथ उनका संबंध और हृदय पर प्रभाव डालने की शक्ति का अनुभव वह भी कर सकता है, जिसको संगीत शास्त्र का कोई ज्ञान नहीं है। संगीत में भी सभी प्रकार के रस पाए जाते हैं और कलाकार का श्रेय इसी में है कि जिस भाव या रस का वह संचार करना चाहता है, सुननेवाले के हृदय में उसका संचार कर दे। वैज्ञानिक रीति से अध्ययन करने का ही फल ऐसा हो सकता है और हमारे संगीताचार्यों ने उसी रीति से उसका अध्ययन किया भी था। जो

यंत्र उन्होंने बनाए हैं, वे अब भी अपने ढंग के निराले हैं। चाहे हवा की फूँक देकर, तारों पर चोट पहुँचाकर, खोखले पर मढ़े चमड़े पर चोट पहुँचाकर अथवा जल से भरे प्याले पर चोट देकर और मुंह से शब्द निकालकर सबको एक में मिला देना और सबमें सामंजस्य कर देना बड़ी चतुरता, वैज्ञानिक अध्ययन और मानव स्वभाव के साथ गहरे परिचय के द्वारा ही हो सकता था। वही चीज़ आज तक सारे भारतवर्ष में प्रचलित है। संस्कृत में संगीत विषयक अनेक ग्रंथ भी मिलते हैं और अनेक ग्रंथों में संगीत का उल्लेख तो है ही।

संस्कृत में लिखे नाटकों की नामावली देखने से ही स्पष्ट हो जाता है कि यह कला कितनी उन्नत हो चुकी थी। विद्वानों की मंडली में उनका जिक्र करना अनावश्यक है, क्योंकि आप सभी उनसे भलीभाँति परिचित हैं।

नृत्यकला आजकल एक प्रकार से दूषित समझी जाती है। इसका संसर्ग कुछ ऐसे लोगों से हो गया कि हम इसे हेय दृष्टि से देखने लग गए थे, पर यह भी अत्यंत उच्च कोटि की कला है और केवल शृंगार रस का ही उद्बोधन इससे नहीं होता, बल्कि और रसों का भी मार्मिक चित्रण हो सकता है। तांडव नृत्य ऐसी चीज़ है, जिसमें दूसरे रस इस प्रकार से समाविष्ट हैं, जिसका नमूना अन्यत्र मिलना कठिन है। इस कला के भी अनेकानेक ग्रंथ हैं, जिनमें भरत का नाट्यशास्त्र विशेष उल्लेखयोग्य है। और यह संतोष का विषय है कि इसको गढ़े से उठाकर सभ्य समाज में स्थापित करने का प्रशंसनीय प्रयत्न अनेक गुणी और कलाविद् आज कर रहे हैं।



हल्लीसक नृत्य, बाघ (ग्वालियर) के एक गुहामंदिर का भित्तिचित्र (भा० पु० वि०)

सच पूछा जाय तो मूर्त्तिकला और चित्रकला उन्हीं भावों और रसों को मूर्त्ति और चित्र द्वारा अंकित करना और स्थायित्व देना चाहती है, जो संगीत, नाट्य और नृत्यकला द्वारा इंगित किए जाते हैं। इस लिए इन कलाओं का एक दूसरे के साथ गहरा संबंध है। इतना ही नहीं, मनुष्य-शरीर और मनुष्य-मनोभावना का ज्ञान जब तक परिपक्व और पूर्ण नहीं होगा, तब तक इन कलाओं में पूरी सफलता नहीं हो सकती, विशेषकर जब इनके द्वारा हम वास्तविकता को व्यक्त करना चाहते हैं। पर उच्च कोटि की कला वास्तविकता तक ही अपने को परिमित और बाधित नहीं रखती, वह वास्तविकता से आगे बढ़कर उद्देश्यों और आदर्शों को भी मनुष्य के सामने हृदयग्राही रूप में रखना चाहती है। हमारी कला इस तरह वास्तविकता को छोड़ आदर्शवादी भी है, और इसका महत्व इसलिए है कि इसने इन दोनों में सामंजस्य और समन्वय स्थापित किया है।

§ ४. काव्य-साहित्य

काव्य और साहित्य की बात मैं नहीं कहना चाहता, क्यों कि इनका पठन-पाठन आज भी प्रचलित है और आधुनिक विद्वान् इनका अध्ययन करके चकित होते हैं। आजकल वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति प्रभृति के काव्य-रस को पान करके कौन तृप्त नहीं होता ? कहने का तात्पर्य यह है कि सभी प्रकार की विद्याओं, कलाओं और साहित्य का भांडार संस्कृत में बहुत बड़ा है।

ऊपर के छोटे दिग्दर्शन से इसके विस्तार, सार्वभौमिकता और गह-राई का कुछ अंदाजा मिलता है।

चौथा अध्याय

संस्कृत वाङ्मय और भारतीय इतिहास की खोज

आधुनिक रीति से संस्कृत अध्ययन करने का एक यह भी फल हुआ है कि हमारा पुराना इतिहास बहुत हद तक तैयार किया जा सका है और अतीत काल के समाज-गठन, राजकीय संस्थाओं और देश संबंधी अन्य प्रकार का ज्ञान प्राप्त हुआ है। थोड़े शब्दों में इनका दिग्दर्शन करा देना लाभदायक प्रतीत होता है।

§ १. हमारे देश के निवासी आर्य और द्राविड़

यह मान लिया गया है कि भारतवासी आरंभ में अधिकतर दो जातियों के थे—एक आर्य, दूसरे द्राविड़। इनका ही वृत्तांत हमारे देश का इतिहास है। उन्होंने अपनी कीर्तियाँ कदम-कदम पर छोड़ रक्खी हैं—और उनके नमूने सारे भारतवर्ष में उस आदिकाल के पत्थर के बने हथियारों से लेकर उच्चतम कोटि के दर्शनशास्त्र के ग्रंथों तक आज पाए जाते हैं। हजारों वर्षों की ये कथाएँ मानव जाति के विकास का इतिहास हैं। यह एक गलत धारणा है कि भारतवर्ष एक देश नहीं, बल्कि अनेक देशों का बना हुआ एक महादेश है; जिसमें एकता न है, न कभी थी और न कभी होगी। आज हम इस देश की चौहद्दी भी ठीक नहीं जानते, यद्यपि ईश्वर ने उत्तर में हिमालय, पश्चिमोत्तर और पूर्वोत्तर में पहाड़ों की

श्रेणियाँ और बाकी सब तरफ समुद्र द्वारा इसकी हदबंदी कर दी है। द्राविड़ और आर्य चाहे एक दूसरे से झगड़े हों, पर वे एक दूसरे में इस प्रकार हिल-मिल गए कि उनका अलग अस्तित्व बहुत बातों में लुप्त हो गया। एक दूसरे पर इतना बड़ा प्रभाव और इतनी गहरी छाप उन्होंने डाली है कि बहुत बातों में उन आर्य सिद्धांतों और आदर्शों को हम द्राविड़लोगों में अधिक पाते हैं, जो आज के अपने को शुद्ध आर्य समझने-वाले लोगों में लुप्त अथवा बहुत कम अवश्य हो गए हैं। इस तरह बहुत चीज़ें द्राविड़ लोगों से लेकर आर्यों ने भी बिलकुल अपना ली हैं। भाषा पर भी इसका काफी असर पड़ा और फलस्वरूप आर्य भाषाओं पर द्राविड़ भाषाओं और द्राविड़ भाषाओं पर आर्य भाषा की अमिट छाप देखने में आती है। यहाँ पर यदि एक-एक के बारे में कहने का प्रयत्न किया जाय तो बहुत विस्तार हो जायगा। नमूने के तौर पर थोड़ी बातें कह देनी आवश्यक हैं। भाषा, व्याकरण और लिपि का जिक्र मैंने ऊपर किया है। यहाँ सामाजिक जीवन और राजनीतिक विषयों का थोड़ा जिक्र कर देना चाहता हूँ।

"हमारा देश विशाल है। उसमें अनेक प्रकार के प्रदेश हैं—जहाँ हिमालय का बर्फ है, वहाँ राजपूताने और सिंध की मरुभूमि भी है और दक्षिण की गर्मी भी है। नदीतटों, पठारों और मैदानों में उर्वरा से उर्वरा जमीन भी है।"[५]

§ २. वैदिक काल

वैदिक तथा दूसरे साहित्य से जो बातें प्रतिपादित हुई हैं, उनसे पता चलता है कि हमारे पूर्वज आरंभ में केवल घूमते-फिरते शिकार और पशु-

पालन से गुजर करनेवाले थे। पर आहिस्ता-आहिस्ता वे पशुपालक और कृषक हुए, विवाह और पितृमूलक परिवार की संस्था उनमें चली और राजतंत्र भी विकसित हुआ। समाज का संघटन मजबूत होता गया। वैदिक समाज का संघटन कबीलों (tribes) के रूप में था। उन कबीलों को वे लोग जन कहते थे। एक जन की समूची जनता विशः कहलाती थी। जन या विशः का ही राजा होता और राजनीतिक रूप से संगठित विशः, अर्थात् जिस प्रजा का अपना देश हो और राजा हो, राष्ट्र कहलाती थी। जन में सजातता का विचार होना आवश्यक है, वह चाहे वास्तविक हो या कल्पित। प्रत्येक जन में अनेक टुकड़ियाँ होतीं, जो ग्राम कहलाती थीं। बाद में ग्राम जिस स्थान पर बस गया, वह स्थान भी ग्राम कहलाने लगा पर शुरू में ग्राम में स्थान का विचार न था, बल्कि अनवस्थित ग्राम भी होते और विशः भी। ग्राम का नेता ग्रामणी कहलाता। आपत्ति के समय या आक्रमण के लिए जन के भिन्न-भिन्न ग्राम इकट्ठे होते। यह समूचे जन का ग्राम-ग्राम करके जुटना ही संग्राम कहलाता। इसी से युद्ध का नाम भी संग्राम हो गया। सैनिक, शस्त्रास्त्र और रथ रण में काम में लाते। धनुष, भाला, बर्छा, कृपाण, फरसा मुख्य शस्त्र थे। योद्धा लोग वर्म या कवच पहनकर लड़ते। जहरीले बाणों का भी प्रयोग होता। युद्ध में जन का नेता राजा होता था, बल्कि यह विचार पाया जाता है कि राजत्व का आरंभ युद्ध में ही हुआ। शांति काल में राजा जन या विशः का राजा होता, न कि भूमि का।

पशु-पालन और खेती मुख्य जीविकाएँ थीं। कृषि केवल वर्षा पर निर्भर न थी, सिंचाई भी होती थी। वैदिक आर्यों की खेती आरंभिक दर्जे

की थी। खादों का विशेष प्रयोग वे न जानते थे। खेती की उपज मुख्यतः अनाज ही थे। कपास अथवा बाग-बगीचों की बात उस समय नहीं पाई जाती। भूमि का स्वामी राजा नहीं होता था, बल्कि जनता ही थी। भूमि दाय रूप में अथवा जंगल आदि साफ करके मिलती थी। खरीदने का रिवाज नहीं था, पर जंगम संपत्ति का लेन-देन काफी था। मुद्रा नहीं के समान थी। वस्तु–विनिमय चलता था। ऋण देने-लेने की प्रथा भी थी। ऋण न चुकाने से ऋणी दास बन सकता था। जुआ खेलने का रिवाज बुरी तरह था और वही प्रायः ऋण का कारण होता था।

कुछ शिल्प भी प्रचलित थे। बढ़ई या रथकार का काम बड़े महत्व का था, क्योंकि वही युद्ध के लिए रथ तथा कृषि के लिए हल या गाड़ी बनाता था। इसी कारण लोहार (कर्मार) का काम भी बड़े गौरव का था। वह अयस् धातु का हथियार बनाता था। मालूम नहीं यह अयस् धातु लोहा है या ताँबा। चमड़ा रँगने और ऊनी कपड़ा बुनने के शिल्पों का भी गौरव था। स्त्रियाँ चटाई आदि भी बनातीं। शिल्पियों की स्थिति साधारण विशः से कुछ ऊँची होती थी। प्रत्येक गांव में कृषकों के साथ सूत (रथ के सारथी) आदि भी थे। वे बुद्धिमान और मनीषी माने जाते थे और इनकी स्थिति लगभग ग्रामणी के बराबर थी।

वैदिक काल में नगरों और नागरिक जीवन की सत्ता विशेष नहीं दीख पड़ती। पुर से अभिप्राय प्रायः परकोटे से घिरे हुए गाँव से ही है। नदियाँ पार करने के लिए नावें चलती थीं। सिंधु और समुद्र में जानेवाली नावों का उल्लेख अवश्य मिलता है, किंतु कई एक विद्वान् सिंधु और समुद्र का अर्थ केवल बड़ी नदी करना चाहते हैं। दूसरी तरफ अनेक विद्वानों की धारणा है कि आर्यों की नावें समुद्र के किनारे-किनारे फारस तक जाती

थीं। आजकल जिसे हम फारस की खाड़ी कहते हैं, उसके ऊपर दजला और फ़रात काँठों में बहुत प्राचीन काल में सभ्यता का उदय हुआ था। वहीं पर बाबुली राज्य स्थापित था। इसी तरह नील नदी के काँठे में मिस्र देश में एक सभ्य जाति बसती थी। पश्चिम एशिया में कई जातियाँ आईं और बसती रहीं। इन सब देशों और जातियों के साथ वैदिक आर्यों का जलमार्ग से संपर्क था और इनकी सभ्यता और ज्ञान में परस्पर आदान-प्रदान चलता था।

राजा का ज़िक्र पहले किया गया है। राजकाज में उसका स्वेच्छाचार नहीं चलता था। वह पूरी तरह नियंत्रित था। प्रजा ही राजा का वरण करती, अर्थात् योग्य उत्तराधिकारी के अभाव में वह नया राजा चुनती और उत्तराधिकारी होने पर भी उसके राजा बनने की विधिवत् स्वीकृति देती। राजा को राज्य के रूप में एक थाती सौंपी जाती। यदि राजा अभिषेक के समय की हुई प्रतिज्ञा को तोड़ दे तो विशः उसे पदच्युत या निर्वासित भी कर देतीं। विशः अपने अधिकारों का प्रयोग समिति नाम की संस्था द्वारा करतीं। राज्य की बागडोर समिति के हाथ में रहती। राजा को वह चाहे जैसे नचाती। तमाम राजकीय प्रश्नों पर विचार और निर्णय करना, राज्य का मंत्र अर्थात् नीति निर्धारित करना उसी के हाथ में था। उसमें स्वतंत्र वाद-विवाद पूरी शांति के साथ होता। वक्ता लोग युक्तियों से और वक्तृत्व कला से सदस्यों को अपने-अपने पक्ष में करने का यत्न करते। समिति के अतिरिक्त एक और संस्था होती, जो 'सभा' कहलाती। शायद यह चुनी हुई छोटी-सी संस्था थी और समिति तमाम विशः की संस्था। राष्ट्र में न्यायालय का कार्य सभा ही करती थी। इनके अतिरिक्त सेना थी। राज के मुख्य अधिकारी, पुरोहित, सेनापति, ग्रामणी

आदि राजा बनानेवाले राजा (राजानो राजकृतः) कहलाते थे । राज्याभिषेक एक बड़ा अर्थपूर्ण कार्य होता था और इसी के द्वारा राजा पर जवाबदेही डाली जाती थी। उस जवाबदेही को निभाने के लिए उसे प्रजा से बलि या भाग (कर) लेने का अधिकार होता। जहाँ समिति का इतना अधिकार था, वहाँ बिना राजा के समिति का ही राज्य करना भी कोई आश्चर्य की बात नहीं। इस तरह अराजक जन भी वैदिक आर्यों में थे। अनेक प्रतापी राजा अपनी शक्ति दूर तक फैला लेते थे। वे सम्राट् कहलाते। साम्राज्य वास्तव में कुछ राज्यों का समुदाय या समूह होता, जिनमें से एक मुखिया मान लिया गया हो। साम्राज्य के अलावा एक दूसरी राज्यपद्धति भी थी, जिसे आधिपत्य कहते। अंत में सार्वभौम राज्य का आदर्श चला। उसका अर्थ था समूचे आर्यावर्त का अधिपति, वह चक्रवर्त्ती भी कहलाता था, अर्थात् उसके रथ का चक्र भिन्न-भिन्न राज्यों में निर्बाध चल सकता था। उस समय का धर्म, कर्म, सामाजिक जीवन, राष्ट्र का आदर्श तथा और दूसरी बातों का पता वेदों के अध्ययन से लगता है। लिपि और वर्णमाला का आरंभ भी उसी समय हुआ है।

§ ३. उत्तर वैदिक काल

इसके बाद उत्तर वैदिक काल में भी आर्यों का सारे भारतवर्ष में फैलना और अपनी संस्कृति और सभ्यता को चारों ओर फैलाना जारी रहा। ज्ञान और तत्त्वचिंतन की लहरें उठीं और धार्मिक और तात्त्विक गवेषणा का वह भांडार, जिसे सामूहिक रूप से उपनिषद् कहते हैं, तैयार हुआ। उसमें मुनियों के साथ-साथ विदेह के जनक, केकय के

अश्वपति, पंचाल के प्रवाहण जैवलि और काशी के अजातशत्रु आदि राजाओं के नाम भी सुने जाते हैं। ज्ञान की प्यास से व्याकुल होकर अनेक समृद्ध तथा कुलीन युवक घर छोड़कर निकल पड़ते और गंधार से विदेह तक विभिन्न देशों में विचरते और जंगलों में भटकते हुए आश्रमों में विद्वान् आचार्यों की सेवा करते और तप और स्वाध्याय तथा विचार और अनुशीलन का जीवन बिताते। जनक वैदेह की सभा में उस शास्त्रार्थ की कथा, जहाँ याज्ञवल्क्य ने सब विद्वानों और विदुषी गार्गी के प्रश्नों का उत्तर देकर दक्षिणा की हजार गौओं को जीत लिया था, इसी उत्तर वैदिक काल की है। इसी उत्तर वैदिक काल के आश्रमों में भारतीय विचार की ठोस बुनियाद पड़ी और भारतीय विचार-पद्धति का एक व्यक्तित्व बना। इसी काल में आर्यों के समाज-संस्थान की नींव पड़ी। इसी काल में जनों के राज्य जनपदों के बन गए।

प्रत्येक व्यक्ति चार ऋण लेकर पैदा होता है—देवताओं का, ऋषियों का, पितरों का और मनुष्यों का—यह विचार इसी युग में परिपक्व हुआ। उन्हीं ऋणों के कारण मनुष्य के कर्त्तव्य निश्चित होते हैं। मनुष्य, अपने पड़ोसी मनुष्यों का ऋण आतिथ्य आदि का धर्म निबाहने से चुका सकता है, देवताओं का ऋण यज्ञ करने से चुका सकता है। ऋषियों का ऋण ज्ञान का ऋण है, वह अध्ययन और विद्या-प्रचार से चुक सकता है। पितरों का ऋण संतान के जन्म से चुकता है। ऋणों के इसी विचार पर आश्रम-व्यवस्था भी निर्भर थी। पहले दो आश्रम विद्यार्थी और गृही, सर्वसाधारण के लिए थे। दूसरे दो, वानप्रस्थ और परिव्राजक, ज्ञानवान लोगों के लिए थे। वानप्रस्थ गाँवों और नगरों के पड़ोस में आश्रमों में रहते। वही आश्रम विचार और अध्ययन के केंद्र होते। राष्ट्र के जीवन पर उनका बड़ा प्रभाव

पड़ता। जैसे-जैसे आर्थिक और सामाजिक जीवन में परिपक्वता आई, वैसे ही राज्य-संस्था में भी।

इस युग का राजनीतिक इतिहास श्रृंखलाबद्ध रूप में अभी तक नहीं मिला है। कुछ घटनाओं का ज़िक्र जहाँ-तहाँ आता है और उन्हीं का संकलन करके इतिहास जोड़ा गया है।

§ ४. महाजनपद काल

सातवीं—छठी शताब्दी ई० पू० तक विदेह और वैशाली में संघराज्य स्थापित हो चुका था। वैशाली मुजफ्फरपुर जिले में बनियाँ बसाढ़ नामक गाँव के आस-पास ही पुराने स्थान का नाम था। वहाँ लिच्छवि लोग रहते थे। विदेहों और लिच्छवियों के पृथक्—पृथक् संघों को मिलाकर फिर इकट्ठा एक ही संघ या गण बन गया. जिसका नाम वृजि या वज्जीगण था। काशी का राज्य एक बड़ा शक्तिशाली राज्य था। कोशल कई बार उसके अधीन रहा। मगध में बार्हद्रथ वंश का राज्य समाप्त होने पर प्रजा ने काशी वंश के शिशुनाक को राजा बनाया और बड़े-बड़े प्रतापी और दिग्विजयी राजा इस वंश में हुए। इस प्रकार उस समय १६ महाजनपद स्थापित हो गए थे। इन १६ महाजनपदों में आठ पड़ोसी जोड़ियाँ गिनी जाती थीं—(१) अंग-मगध, (२) काशी-कोशल, (३) वृजि-मल्ल, (४) चेदि-वत्स, (५) कुरु-पंचाल, (६) मत्स्य-शूरसेन, (७) अश्मक-अवंति, (८) गंधार कंबोज। आज के बिहार का इन आठ में से तीन के साथ संबंध था। अंग देश मगध के ठीक पूरब था। उसकी राजधानी चंपा या मालिनी, जिसे आधुनिक भागलपुर शहर का पच्छिमी हिस्सा चंपानगर सूचित करता है, उस समय भारतवर्ष की सबसे समृद्ध नगरियों में से थी। मगध की

राजधानी राजगृह भी वैसी नगरियों में से एक थी। मगध का राज्य इन १६ महाजनपदों में से भी जो चार-पाँच मुख्य थे उनमें एक था। काशी राष्ट्र की राजधानी वाराणसी उस समय भारतवर्ष में सबसे समृद्ध नगरी थी। कोशल देश की राजधानी श्रावस्ती अचिरावती (राप्ती) नदी के किनारे थी। तिरहुत या उत्तर विहार के वृजिगण की राजधानी वैशाली थी। आज भी चंपारन के थारू लोग अपने से भिन्न लोगों को वजि और नेपाली लोग वजिया कहते हैं। वैशाली के चारों तरफ तिहरा परकोटा था, जिसमें जगह-जगह पर बड़े-बड़े दरवाजे और गोपुर बने हुए थे। वृजि लोगों में प्रत्येक गाँव के सरदार को राजा या राजुक कहते थे। कहते हैं, लिच्छवियों के ७७०७ राजा थे। उनमें से प्रत्येक का उपराज, सेनापति और भांडागारिक (कोषाध्यक्ष) भी था। ये सब राजा अपने-अपने गाँव में शायद स्वतंत्र शासक थे, किंतु राज्य के सामूहिक कार्य का विचार 'परिषद्' में हुआ करता था, जिसके वे सब सदस्य हुआ करते थे। इसी राज्य-परिषद् के हाथ में लिच्छवि राष्ट्र की मुख्य शासन-शक्ति थी। शासन-प्रबंध के लिए इसमें से शायद चार या नौ आदमी गणराजा चुन लिए जाते थे। कहते हैं, वैशाली के इन ७७०७ राजाओं में से प्रत्येक का अभिषेक होता था। अभिषेक के लिए एक पोखरनी थी, जिस पर कड़ा पहरा रहता था और ऊपर भी लोहे की जाली लगी रहती थी, जिससे पक्षी भी उसके अंदर न घुस सकें। सब राजा और रानियों का पोखरनी के जल से अभिषेक होता था।

मल्ल जनपद वृजि जनपद के ठीक पच्छिम और कोशल के ठीक पूरब सटा हुआ था। वत्स देश काशी के पच्छिम और चेदि—आधुनिक बुंदेलखंड—वत्स के पच्छिम तथा जमना के दक्खिन था। वत्स की राजधानी

कौशांबी (आज का इलाहाबाद जिले का कोसम गाँव) थी। पच्छिम समुद्र के बंदरगाहों से तथा गोदावरी काँठे के प्रतिष्ठान (पैठन) से मध्य देश और मगध की नगरियों को जोड़नेवाले रास्ते उज्जयिनी और कौशांबी होकर ही गुजरते थे। उनकी एक शाखा गंगा-पार साकेत, श्रावस्ती और वैशाली चली आती थी, और दूसरी जलमार्ग से काशी होते हुए समुद्र तक पहुँचती थी। पंचाल देश कोशल और वत्स के पच्छिम तथा चेदि के उत्तर था। कुरु उसके पच्छिम और व्रजभूमि के उत्तर था। वे दोनों प्राचीन जनपद थे। कुरु-पंचाल मिलकर एक ही राष्ट्र गिने जाते और उनकी राजधानी इंद्रप्रस्थ, और कभी कांपिल्य नगर और कभी उत्तर पंचाल नगर होती। कुरु के दक्खिन शूरसेन (मथुरा) और मत्स्य भी वैसे ही पुराने राष्ट्र थे। इनके दक्खिन-पच्छिम अवंति शक्तिशाली राज्यों में था और उसकी राजधानी उज्जयिनी बहुत प्रसिद्ध थी। अश्मक की राजधानी पौदन्य थी। कलिंग की राजधानी दंतपुर थी। उत्तर में गंधार देश विद्या का केंद्र होने के कारण प्रख्यात था और उसकी राजधानी तक्षशिला थी, जहाँ मध्य देश के राजपुत्र, सेठियों के लड़के और गरीब ब्राह्मण सभी पढ़ने जाते थे। कश्मीर इसी महाजन-पद में सम्मिलित था। गंधार-कश्मीर के उत्तर आधुनिक पामीरों का पठार तथा उसके पच्छिम बदख्शाँ प्रदेश कंबोज महाजनपद कहलाता; उसकी पूरबी सीमा सीता नदी (यारकंद दरिया) और पच्छिमी बाल्हीक (बलख) प्रदेश था। इन जनपदों के अतिरिक्त कई छोटे राष्ट्र थे, जिनमें आधुनिक नेपाल तराई में अचिरावती और रोहिणी नदी के बीच शाक्यों का छोटा-सा गणराष्ट्र था, जिसकी राजधानी कपिलवास्तु में थी।

इस प्रकार इन राष्ट्रों की पच्छिमोत्तर सीमा तो कंबोज तक गई थी

और पूरबी सीमा अंग और कलिंग तक, तथा दक्खिनी सीमा अश्मक राष्ट्र तक। अश्मक के दक्खिन आंध्र आदि राष्ट्र थे, जिनमें दामिल रट्ठ का भी नाम सुना जाता है। उसके भी आगे नागदीप और कारदीप थे। नागदीप उत्तर-पच्छिमी सिंहल का पुराना नाम था। आर्य तापस और व्यापारी इन राष्ट्रों में बराबर आया-जाया करते थे। वाराणसी के व्यापारी सिंहल तक जाते-आते। पूरब तरफ़ उसी तरह व्यापारी सुवर्णभूमि तक, जो आधुनिक बर्मा है, जाते थे। भरुकच्छ (भरुच) और वाराणसी से सीधे सुवर्णभूमि के लिए नावें रवाना होती थीं; किंतु विशेष कर चंपा के लोग उधर व्यापार करने जाते थे। इसी व्यापार के सिलसिले में आर्यावर्त के लोग पूरबी सागर के अनेक द्वीपों का परिग्रह या भौगोलिक खोज-ढूँढ़ करते। कई द्वीपों में, जहाँ की ज़मीन बहुत उपजाऊ होती, वे बस भी जाते थे।

इन राज्यों में आपस में लड़ाइयाँ भी हुआ करतीं। उनकी राजसत्ता की बुनियाद उनकी आर्थिक समृद्धि पर ही थी। राज्य जनमूलक (tribal) न रहा था, प्रत्युत जानपद (territorial) हो गया था। पर, तो भी भूमि राज्य की मिलकियत न थी—वह कृषकों की संपत्ति थी। राजा खेत की उपज पर केवल वार्षिक भाग (या बलि) लिया करता, जंगल-परती का निपटारा करता और अस्वामिक जमीन पर अधिकार करता। इस राजभोग का वह निजी काम में उपयोग कर सकता। राजकीय भाग गाँव का मुखिया (ग्रामभोजक) अथवा महामात्य वसूल करता। भूमि का दान और विक्रय हो सकता था। पिता की संपत्ति का पुत्रों में बँटवारा भी होता था। प्रत्येक गाँव में अनेक कुल (परिवार) रहते थे और ३० से १००० कुलों तक के ग्रामों का उल्लेख मिलता है। इस युग तक कपास की खेती और बाग-

चानी खूब चल चुकी थी और आरामों और उद्यानों (बगीचों) का रिवाज खूब हो गया था। नावों, जहाजों और इमारतों के लिए लकड़ी जंगलों से लाई जाती। गाँवों के मवेशी पड़ोस के चरागाहों में चरते। गाँवों का गोपालक उन्हें रोज चराने के लिए ले जाता। गाँवों के चारों ओर दीवार रहती और उसमें दरवाजे होते। गाँव में सामूहिक रूप से सिंचाई का प्रबंध था। मजदूर खेतों में मजदूरी करते। खेती एक ऊँचा पेशा गिना जाता। वह वैश्यों का काम तो था ही, किंतु ब्राह्मण भी खेती करते थे और गण-राज्यों के सभी सामान्य क्षत्रिय कृषक ही होते थे। दास-दासियाँ प्रत्येक धनी आर्य गृहपति के घर में रहतीं, पर खेती का काम भृतक ही करते। उन्हें रहने की जगह और अनाज अथवा सिक्के के रूप में भृति मिलती। गाँव के लोग सामूहिक मामलों का प्रबंध स्वयं करते। मुखिया ग्रामभोजक कहलाता। कई प्रकार के शुल्कों और जुर्मानों से उसकी आमदनी होत गाँव की सभाएँ सामूहिक रूप से सभाभवन और सराएँ बनातीं, बगीचे लगवातीं, तालाब खुदवातीं और बाँध बँधवाती थीं। उनके निश्चय के अनुसार सड़कों की मरम्मत के लिए गाँव का प्रत्येक युवक बारी-बारी मुफ्त मजदूरी करता। गाँव की सभाओं और सामूहिक कामों में स्त्रियाँ भी भाग लेतीं।

शिल्प और व्यवसाय की भी यथेष्ठ उन्नति थी। उनमें श्रम-विभाग भी हो गया था, जैसे-वड्ढकि (बढ़ई) जो इमारत के काठ के काम से लेकर जहाज तक बनाता, थपति (स्थपति) इमारत बनाने वाला (आज कल भी उसे थवई कहते हैं) तच्छक (तक्षक—रंदा फेरनेवाला) और भमकार (भ्रमकार—खराद करनेवाला) आदि। कम्मार में सब किस्म के धातु का काम करनेवाले सम्मिलित थे। विशेष शिल्प बहुत जगहों में

विशेष रूप से जम गए थे—जैसे केवल वढ़इयों के, लोहारों के अथवा शिकारियों (नेसादों—निषादों) आदि के गाँवों का वर्णन आता है। वड़ी नगरियों के विशेष मुहल्लों और गलियों में भी इसी प्रकार विशेष शिल्प केंद्रित हो गए थे—जैसे, दंतकार वीथी (हाथी दाँत का काम करनेवालों का वाजार), रजक वीथी (रँगरेजों की गली) इत्यादि। प्रत्येक शिल्प या व्यवसाय में लगे हुए व्यक्तियों का अपना संगठित समूह था, जिसे श्रेणि कहते थे। "वड्ढकि, कम्मार, चम्मकार, चित्रकार आदि १८ श्रेणियाँ" यह एक प्रचलित मुहावरा-सा था। पर प्रत्येक नगर या प्रदेश में सभी होती हों या इनसे अधिक श्रेणियाँ नहीं होतो थीं, ऐसी वात न थो। ऊपर की चार श्रेणियों के अतिरिक्त सुनार, पाषाण कोट्टक, दंतकार, जौहरी, नलकार (नल की चटाइयाँ आदि वनानेवाला), कुम्हार, रंगरेज़, मछुए, कसाई, शिकारी, माली, नाई, माँझी और नाविक, जल निय्यामक (जहाजों के मार्गदर्शक) और थलनिय्यामक अथवा अटवीआरक्खक (जंगल में व्यापारी काफलों के मार्ग-रक्षक और मार्ग-दर्शक) आदि धंधों की अलग श्रेणियाँ थीं। प्रत्येक श्रेणि का एक मुखिया (पामोक्ख—प्रमुख) या जेट्ठक (ज्येष्ठक) होता, जैसे—कम्मार जेट्ठक या वड्ढकि जेट्ठक आदि। ये श्रेणियाँ जातियाँ न थीं। प्रत्येक व्यक्ति को अपना धंधा चुनने की स्वतंत्रता थी। इस प्रकार श्रेणि के लोगों की संतानों के अतिरिक्त दूसरे वालक और नवयुवक भी उस्ताद कारीगरों के अंतेवासिक अर्थात् शागिर्द वनते थे। साहित्य में उल्लेख मिलता है कि राजा का पुत्र व्यापारी वनकर काफले के साथ गया अथवा कुम्हार या माली या रसोइया अंतेवासिक वना। क्षत्रिय धनुर्धर जुलाहे का काम, ब्राह्मण शिकारी या रथकार का काम करता पाया

जाता है। इस तरह पूरी स्वतंत्रता थी, तो भी श्रेणियों का संगठन बना रहता।

व्यापार की भी खूब उन्नति थी। व्यापारी बाहर के व्यापार के लिए सार्थों अर्थात् काफ़लों में चलते और स्थल और जल में लंबी-लंबी यात्राएँ करते। एक-एक समुद्रगामी जहाज़ में ५-५ सौ, ७–७ सौ व्यापारियों के इकट्ठे यात्रा करने का उल्लेख पाया जाता है। व्यापारी भी संघटित थे। सार्थ का मुखिया सार्थवाह कहलाता। उनकी पूँजी भी कई बार सम्मिलित होती और व्यापार तथा मुनाफा भी साझे में होता। कीमती चीज़ों का ही व्यापार अधिक होता—जैसे, रेशम, मलमल, शाल, दुशाले, पट्टू, ज़री और कसीदे के काम किए हुए कपड़े, अस्त्र–शस्त्र, कवच, हथियार, कैंची, चाकू, दवाएँ, सुगंध हाथी दाँत का सामान, सोना, रत्न, जवाहर, हाथी, घोड़े, दास, दासी आदि व्यापार की मुख्य वस्तुएँ थीं।

व्यापार बहुत देशों से होता। गंगा और यमुना का जलपथ तो खुला था ही, पर नावें बर्मा तक सीधी चली जातीं। अनेक स्थलपथ भी बने हुए थे। मध्यदेश से उत्तर-पच्छिम गंधार तक राजपथ था। शायद आजकल का राजपथ उसी पथ से मिलता-जुलता है। आधुनिक सिंध (सौवीर) की राजधानी रोरुक या रोरुव (आधुनिक रोरी) और पच्छिमी समुद्रतट के बंदरगाह भरुकच्छ आदि व्यापार-केंद्र थे, जिनका व्यापार बावेरु (बाबुल) के साथ था और भारतीय नावें आधुनिक लालसागर, नील नदी और मध्यसागर तक पहुँच जाती थीं। ऊपर कहा जा चुका है कि दक्खिन सिंहल द्वीप तक और पूरबी समुद्र के द्वीपों में भी भारतीय व्यापारी पहुँचते थे। इस विदेशी व्यापार की बदौलत बड़ी समृद्धि थी। क्रय-विक्रय

खुले सौदे से होता था। दामों पर कोई बंधन न था। राज्य की तरफ से शहर में आनेवाले देशी माल पर प्रायः $\frac{१}{२०}$ तथा विदेशी पर $\frac{१}{१०}$ और वस्तु का एक नमूना चुंगी के रूप में लिया जाता। सिक्के काम में आते, जिनमें मुख्य कहापण (कार्षापण) था। गहने आदि गिरवी रखने और ऋण-पत्र लिख देने का भी रिवाज था। सूद पर रुपया देने का पेशा भी कुछ लोग करते। नगरों में व्यापारियों के संघ को निगम कहते थे और उनके मुखिया सेट्ठी (श्रेष्ठी) कहलाते थे, सेट्ठी जीवनभर के लिए निर्वाचित होता था।

उस समय के राजनीतिक समाज का चित्र भी मिल जाता है। प्रत्येक बस्ती में समूची प्रजा अपने पेशे या धंधे के मुताबिक विभिन्न समूहों में बँटी हुई थी, जिसके मुख्यतः कृषक, शिल्पी और व्यापारी तीन विभाग थे। अपने आंतरिक अनुशासन में प्रत्येक स्वतंत्र था। ये ही समूह—ग्राम, श्रेणि और निगम—अनुशासन की सबसे छोटी इकाइयाँ (units) थीं। नगरियों का प्रबंध और अनुशासन इस युग में एक नई समस्या थी। उनमें विभिन्न श्रेणियों का प्रतिनिधित्व आहिस्ता-आहिस्ता स्थापित हुआ और इन निगमों में ही नगर-संस्थाओं का समय पाकर संघटन हुआ।

एकराज्य और गणराज्य महाजनपद युग में थे। इस काल में राज्य का समूचा आर्थिक और सामूहिक आधार श्रेणियों और निगमों पर था। राज्य की आय मुख्यतः उन्हीं से थी। युद्ध-सामग्री उन्हीं के द्वारा तैयार होती थी। श्रेणियों के आपस के झगड़ों के फैसले के लिए एक विशेष पद बनाया गया था। प्रत्येक महत्त्व के कार्य में राजा 'नेगमजानपदा' की

सलाह लेता। यह एक बाकायदा संस्था थी। राज्य के मुख्य-मुख्य अधिकारियों का समूह होता, जिसको परिषा (परिषद्) कहा जाता। वे राजा के नियुक्त किए होते थे, किंतु ब्राह्मणों, श्रेणि-मुख्यों, श्रेष्ठियों आदि में से चुने जाते थे और इस प्रकार वे प्रजा के प्रतिनिधित्व में ही अधिकार पाते थे।

गणराज्यों में अंतिम और उच्चतम अनुशासन एक सभा के निर्वाचित व्यक्ति के हाथ में रहता। उन सभाओं की कार्यशैली बहुत कुछ उन्नत और परिष्कृत हो चुकी थी। उनमें बाकायदा छंद या सम्मति (vote) लेने, निश्चित विधान के अनुसार प्रस्ताव पेश (ज्ञप्ति) करने, भाषण देने, विवादग्रस्त विषय सालिसों को सुपुर्द करने आदि की परिपाटी चल चुकी थी। उन सभाओं के लिए अपने विशेष भवन थे, जो संथागार कहलाते थे। एकराज्यों और गणराज्यों के बीच साम्राज्य अथवा सार्वभौम राज्य बनाने की कोशिश जारी थी।

आजकल लोग अक्सर कह बैठते हैं कि भारतवर्ष में प्रजातंत्र था ही नहीं और यहाँ के लोग हमेशा एक राजा की मनमानी हुकूमत को ही समझ सकते हैं और जानते हैं। यह बात बिलकुल गलत है। बहुत प्राचीन काल में भी यहाँ के लोग प्रजातंत्र से वाकिफ थे और गणराज्यों की स्थापना कई जगहों में थी। श्रावस्ती से अंग तक अर्थात् गोरखपुर-बलिया से भागलपुर तक के बीच हिमालय से दक्खिन और मगध से उत्तर आठ गणराज्यों के नाम स्वर्गीय श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने गिनाए हैं—यथा—(क) कपिलवस्तु के शाक्य, (ख) रामग्राम के कोलिय, (ग) वैशाली के लिच्छवि, (घ) मिथिला के विदेह (लिच्छवि और विदेह

मिलकर वृजि या वज्जी हुए थे), (ङ) कुशीनारा और पावा के मल्ल, (च) पिप्पलीवन के मोरिय, (छ) अल्लकप्प के बुली और (ज) सुंसुमारगिरि के भग्ग। इनमें से प्रधान वृजि और मल्ल थे। लिच्छवियों के गणराज्य में मुख्य पदाधिकारी राजा, उपराज, सेनापति और भांडागारिक होते थे। उनके ७७०७ राजाओं का ऊपर जिक्र आया है। यह उन कुलों की संख्या है, जो इस गणराज्य के मुख्य स्थापित करनेवाले थे। उनकी जनसंख्या १,६८,००० थी। वे अपने सभाभवन में, जिसे संथागार कहते थे, सभा करते और वहाँ केवल राजकीय और सेनासंबंधी बातों पर ही नहीं, बल्कि कृषि और व्यापार पर भी विचार करते थे। गण अपने में से महत्तक अथवा दूत दूसरे गणों के पास भेजता था। राजा न्यायाधिकारी भी था। कोई आदमी उस वक्त तक कसूरवार नहीं समझा जाता था, जब तक सेनापति, उपराज और राजा उनको अलग-अलग कसूरवार न ठहरावें। सब मुकदमों की, और जो सजा दी जाती थी उसकी, तालिका रक्खी जाती थी। वोहारिक लोग फैसलों के खिलाफ अपील सुनते थे। बड़ी अदालत के न्यायाधीश सूत्रधार कहलाते थे। सब के ऊपर आठ आदमियों की अदालत थी, जिसको अष्टकुलक कहते थे। इनमें से कोई भी अदालत अगर किसी को बेकसूर करार दे तो वह छोड़ दिया जाता था। जब मगध के राजा के दूत ने बुद्ध से जाकर वज्जियों (लिच्छवियों और विदेहों) पर आक्रमण करने की बात पूछी, तब बुद्ध ने इसका उत्तर दूत को न देकर अपने शिष्य आनंद को दिया। उन्होंने पूछा—'हे आनंद! क्या तुमने सुना है, वज्जी अपनी सभा भरी और अकठर किया करते हैं?' और इसी प्रकार के कई और प्रश्न पूछे, और जब आनंद ने उनका उत्तर 'हाँ' में दिया तो बुद्ध ने अपनी राय इन शब्दों में दी—

" १-जब तक, हे आनंद, वज्जी लोग अपनी सभा भरी और अक्सर करते रहेंगे, २-जब तक वे लोग एक साथ मिलकर बैठेंगे, एक साथ मिलकर उठेंगे, एक साथ मिलकर अपना सब काम करेंगे, ३-जब तक वे लोग बाकायदा कानून बनाए बिना कोई आज्ञा जारी नहीं करेंगे, बने हुए नियम का उल्लंघन न करेंगे और यथाविधि नियमों के अनुसार मिलकर आचरण करेंगे, ४-जब तक वे अपने बड़े-बुजुर्गों की इज्ज़त करेंगे, प्रतिष्ठा करेंगे और उनके प्रति श्रद्धा रक्खेंगे और उनका कहना मानना अपना धर्म समझेंगे, ५-जब तक उनमें कोई स्त्री और लड़की जबर्दस्ती या फुसलाकर न रोक ली जायगी, ६-जब तक वे अपने चैत्यों की इज्जत करेंगे, प्रतिष्ठा करेंगे और उनके प्रति श्रद्धा रक्खेंगे, ७-जब तक वे अर्हतों की रक्षा करते रहेंगे, उनका पोषण करते रहेंगे, उन्हें विचरने की सुविधा देते रहेंगे, तब तक वज्जीलोग उन्नति ही करते रहेंगे, और उनकी अवनति नहीं होगी।" यह सुनकर दूत ने कहा कि—"मगधराज वज्जियों को नहीं जीत सकता।" जीतने का एक ही उपाय था, उनमें मतभेद पैदा करना। यह बात आज से २५–२६ सौ वर्ष पहले कही गई थी। तब से आज तक भारत के इतिहास में यह कितनी बार चरितार्थ हो चुकी और आज भी चरितार्थ हो रही है।

इन गणराज्यों के अलावा स्वर्गीय जायसवाल ने और कितने ही गणराज्यों के नाम दिए हैं, जो पंजाब में पुराने समय से चले आते थे और जिनका मुकाबला सिकंदर को करना पड़ा था। यूनानी लेखों से इन गणराज्यों के संघटन का पता मिलता है। अंबष्ठों के गणराज्य में ज्येष्ठों की एक दूसरी सभा भी होती थी। चुनाव में सम्मति देने का अधिकार हर आदमी को था। वे अपने सेनापति भी चुनते थे। क्षुद्रक और मालव

लोग अपना राजा नहीं चुनते थे। कठ लोग राजा चुनते थे। सौभूत लोगों का भी कुछ ऐसा ही संघटन था। इन लोगों में व्यक्ति की कोई हैसियत न थी, वह गण का केवल एक अंशमात्र था। कहीं-कहीं राजा सिर्फ लड़ाई के समय चुन लिया जाता था। इस तरह नीचे लिखे कई प्रकार के राज्य भारतवर्ष में थे, जैसे, अराजकराज्य, गणराज्य, युवराजराज्य, द्वराज, वैराज्य और विरुद्धराज्य अर्थात् विभिन्न दलों के राज्य।[१] उस समय की सभाओं के नियम प्रायः वैसे ही थे, जैसे आजकल के होते हैं।

§ ५ मगध का पहला साम्राज्य

इनके अतिरिक्त जो बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित हुए, उनका इतिहास अत्यंत गौरवपूर्ण है। छोटे-छोटे राज्यों में आपस में चढ़ा-ऊपरी और साम्राज्य स्थापित करने का प्रयत्न हमेशा जारी रहा। इन्हीं प्रयत्नों का एक नतीजा यह निकला कि मगध का राज्य बहुत प्रतापी और विस्तृत हो गया। जिस हिस्से में आजकल पढ़ने-लिखने की भाषा हिंदी है, प्रायः उसी को प्राचीन लोग मध्यदेश कहते थे। छठी शताब्दी ई० पू० के उत्तरार्द्ध से उसमें मगध की तूती बोलने लगी। थोड़े ही दिनों में मगध ने अंग को हजम कर लिया, कोशल को नीचा दिखाया, वृजिसंघ का राज्य छीन लिया, मिथिला भी उसमें शामिल हो गई। उसकी पुरानी राजधानी राजगृह एक कोने में पड़ गई, इस लिए इसके राजा उदयी ने (४८६—४६७ ई० पू०) गंगा और सोन के संगम पर नई राजधानी की पाटलिपुत्र नगरी में स्थापना की, जो संसारभर में प्रसिद्ध हुई। उदयी ने अवंती का भी पराभव किया और उसके बेटे नंदिवर्द्धन ने कलिंग को भी जीत लिया।

---

१. हिंदू पॉलिटी, १, पृ० ६६।

इस प्रकार प्रायः सारा भारत मगध राज्य के अधीन हो गया। नंदिवर्द्धन के बेटे महानंदी के दो बेटों का अभिभावक महापद्मनंद था। उसने उन दोनों को मार दिया और वह खुद मगध की गद्दी पर बैठ गया। वह बड़ा शक्तिशाली था और मगध की शक्ति उसने और भी अधिक बढ़ा दी। उसके वंश में बहुत दिनों तक राज्य नहीं रह सका। उसके बेटे के समय में ही सिकंदर ने पंजाब पर हमला किया।

§ ६. मौर्यकाल

सिकंदर के मरने के बाद एक वर्ष के अंदर ही चंद्रगुप्त ने उसकी सेना को पंजाब से मार भगाया और मगध पर चढ़ाई कर दी। नंद सम्राट् को मारकर उसने मगध का शासन भी अपने हाथ में ले लिया (३२२ ई० पू०)। यह चंद्रगुप्त मोरिय नाम की एक जाति के एक छोटे संघ राज्य में, जो हिमालय की तराई में था, पैदा हुआ था। वह नंदवंश के प्रजापीड़क राजा के खिलाफ बगावत करके निकला था और उसकी मुलाकात तक्षशिला निवासी विष्णुगुप्त चाणक्य या कौटिल्य से हो गई थी। उन्हीं दोनों ने नंदवंश का खात्मा करके मगध राज्य पर कब्ज़ा कर लिया। चाणक्य और चंद्रगुप्त असाधारण प्रतिभाशाली और दृढ़व्रती थे। मगध राज्य को उन्होंने और भी बढ़ाया और चंद्रगुप्त ने सिकंदर के बाद यूनानी साम्राज्य के अधिपति सेलेउकस् को हराकर हिंदूकुश और काबुल का प्रदेश, हरात, कंदहार और वह प्रदेश, जिसको आजकल कलात, लासबेला और मकरान कहते हैं, जीत लिया। हिंदूकुश के उत्तर बदख्शां और पामीर भी मौर्य-साम्राज्य के अधीन हो गए। चंद्रगुप्त के बाद उसका बेटा बिंदुसार राजा हुआ। चाणक्य उसके समय में भी प्रधान अमात्य रहा और उसने और

सोलह राजधानियों को जीतकर पूरब से पच्छिम समुद्र तक की भूमि बिंदुसार के अधीन कर दी। इस प्रकार मौर्य साम्राज्य की सीमा आधुनिक-कर्णाटक के दक्खिनी छोर तक पहुँच गई थी। बिंदुसार का पुत्र अशोक हुआ। उसने कलिंग का पराजय किया। इस तरह मौर्यों ने आधुनिक भारत के मद्रास तक प्रायः सभी प्रदेशों और आधुनिक भारत के बाहर के अफगानिस्तान के प्रदेश पर भी अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया। इस साम्राज्य का फैलाव आज के भारतीय ब्रिटिश साम्राज्य के फैलाव से बढ़ा हुआ था।

'अशोक ने कलिंग को जीता तो सही, पर जीतने में जो खून बहाना पड़ा, उसका असर उसके दिल पर बहुत पड़ा और वह स्वयं बौद्ध धर्मावलंबी हो गया और दिग्विजय की बजाय उसने धर्म-विजय को श्रेयस्कर मान लिया'।

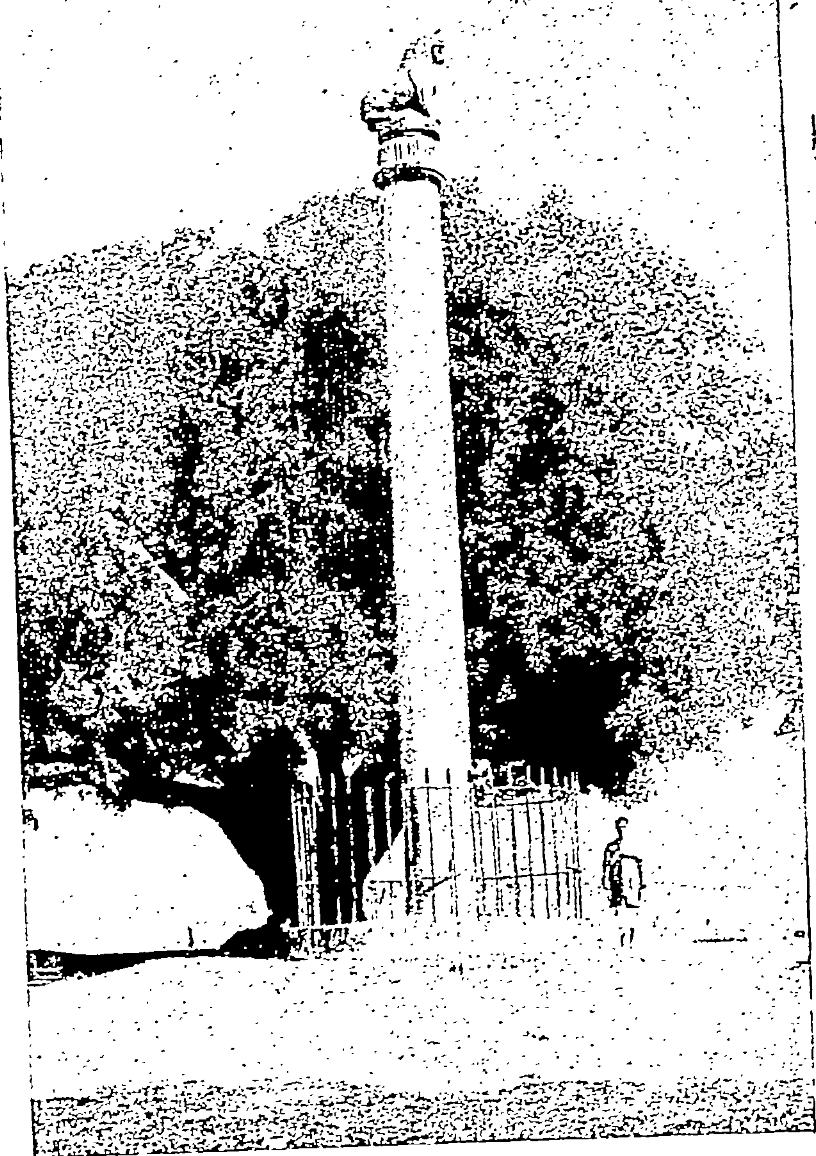
मौर्य साम्राज्य का शासन-प्रबंध बहुत ही व्यवस्थित था और उसका पूरा हाल मेगास्थनेस के वर्णन से, कौटिल्य के अर्थशास्त्र से और अशोक के खुदवाए हुए लेखों से मिलता है। साम्राज्य को कई मंडलों में बाँट दिया गया था और शासन का निरीक्षण करने के लिए राजा की तरफ से राजकुमार, महामात्य या राजुक नियुक्त थे। प्रत्येक मंडल अथवा चक्र के नीचे कई जनपद होते थे, जिनमें प्रजा की परिषद् की सहायता से शासन हुआ करता था। प्रत्येक जनपद का अपना-अपना धर्म और व्यवहार था, और ग्रामों की परिषद् जो नया कानून बनाती, वह चरित्र कहलाता था। जनपदों में रहनेवाली प्रजा अपने जनपद के प्रति अभिमान और भक्ति का भाव रखती। मौर्य साम्राज्य में केंद्रित शासन की शक्ति बढ़ाने का प्रयत्न हुआ था और बहुत गाँवों में कर की वसूली, रक्षा, न्याय आदि के लिए

राजकीय 'पुरुष' नियुक्त थे। वे गोप कहलाते थे। न्यायालय दो प्रकार के थे—कंटकशोधन यानी फौजदारी और धर्मस्थीय यानी दीवानी। वसूली, न्याय आदि के सिवा सिंचाई, जंगल, खान और शराबखानों की देख-रेख के लिए भी महकमे थे। पाटलिपुत्र से चारों तरफ सड़कें बनी हुई थीं। मनुष्यों और पशुओं के लिए चिकित्सालय थे। मनुष्य-गणना होती थी। वर्षा को माप रक्खी जाती थी। फौजदारी मामलों में मृतक-परीक्षा की रीति थी। सेना में छः विभाग थे। पैदल, सवार, हाथी, रथ, जलसेना और रसद। पाटलिपुत्र में इंतजाम के लिए ३० आदमी प्रजा द्वारा नियुक्त होते थे। एक महकमा विदेशियों की और एक शिल्प की देख-रेख के लिए भी था। नगरों का प्रबंध भी वैसा ही था। दंड-विधान कड़ा था। कारीगर का हाथ या आँख बेकार कर देनेवाले को फाँसी होती थी, और सिंचाई के तालाब का बाँध तोड़नेवाले को वहीं डुबा दिया जाता था। मेगास्थनेस ने लिखा है—"भारतवर्ष के लोग कभी झूठ नहीं बोलते, मकानों में ताला नहीं लगाते और अदालतों में कम जाते हैं।" उसने यह भी लिखा है कि भारत में दासता न थी। कौटिल्य भी लिखता है—"म्लेच्छों को अपनी संतान बेचने या बंधक रखने से दोष नहीं लगता, पर आर्य कभी दास नहीं हो सकता।" जो थोड़ी दासता थी, उसे भी कौटिल्य ने बिलकुल उठाने की चेष्टा की। उसने ऐसे नियम बनाए कि दासलोग आसानी से आर्य यानी स्वतंत्र भारतवा ब न सकते

अशोक ने कलिंग-विजय के बाद बहुत पश्चात्ताप किया और उसके बाद अधिक विजय का विचार छोड़ दिया। उसने बेटे-पोतों के लिए भी यह शिक्षा दी कि "वे नई विजय न करें और जो विजय बाण खींचकर ही हो सके, उसमें भी क्षमा और लघुदंडता से काम लें। धर्म के द्वारा जो

विजय हो, उसी को असल विजय मानें।" अपने अधिकारियों को उसने लिखा—"शायद आपलोग जानना चाहें कि सीमा पर के जो राज्य अभी तक जीते नहीं गए हैं, उनके विषय में राजा क्या चाहता है। मेरी यही इच्छा है कि वे मुझसे डरें नहीं, मुझ पर भरोसा रखें। वे यह मानें कि जहाँ तक क्षमा का बर्त्ताव हो सकेगा, राजा हमसे क्षमा का वर्त्ताव करेगा।" केवल मनुष्य-संहार ही उसने बंद नहीं किया, पशुओं की भी रक्षा की। "किसी प्राणी की हत्या या होम नहीं करना चाहिए और न समाज करना चाहिए (जानवर लड़ाकर तमाशा देखने को समाज कहते थे)......राजा के रसोई घर में शोरबे के लिए प्रतिदिन सैकड़ों-हजारों प्राणी मारे जाते थे, पर अब, जब यह धर्मलिपि लिखी गई, केवल तीन प्राणी—दो मोर और एक मृग—मारे जाते हैं। वह मृग भी सदा नहीं। आगे वे तीन प्राणी भी न मारे जायँगे।" पशुवध उसने बहुत अंश में वर्जित कर दिया। उत्सव की तिथियों पर जानवरों का वध अथवा बधिया करना और दागने की मनाही कर दी और केवल अनर्थ और विहिंसा के लिए जंगलों को जलाने का निषेध कर दिया। कई बार उसने कैदियों को मुक्त किया।

राजपुरुषों पर कड़ी निगरानी थी कि वे प्रजा को पीड़ित न कर पावें, एक भी निरपराध कष्ट न पावे। बड़े-बड़े अधिकारी छोटे अधिकारियों के काम का निरीक्षण किया करते, अपने इलाके में दौरा करते और उनकी बदली भी हुआ करती। सब पंथवालों को आजादी थी! अशोक चाहता था कि विभिन्न पंथवाले परस्पर सहिष्णुता और आदर का भाव रखें। उसने धर्ममहामात्य नियुक्त किए थे। उनका काम यह था कि विभिन्न पंथों में सहिष्णुता और उदारता बनाए रखें; कैद, फाँसी आदि दंडों की सख्ती को जहाँ तक बने कम करावें, इत्यादि। वह किसी खास धर्म की वृद्धि—



अशोक-स्तंभ, लौड़िया नंदनगढ़ (चंपारण)

(भा० पु० वि०)

किसी खास पंथ का प्रचार—नहीं चाहता था। धर्म से उसका मतलब था—पाप न करना, बहुत कल्याण करना, दया, दान, सचाई, शौच, प्राणियों को न मारना, ज्ञातियों, ब्राह्मणों और श्रमणों के प्रति आदरपूर्ण बर्ताव, माता पिता की सुश्रूषा, दासों और भृतकों से उचित बर्ताव, गुरुजनों की पूजा, इत्यादि। लोगों के आराम के लिए उसने सड़कों पर बरगद रोपवा दिए थे, जिनसे पशुओं और मनुष्यों को छाँह मिले। आमों की वाटिकाएँ रोपवाईं। आठ-आठ कोस पर कुएँ खुदवाए और सराएँ बनवाईं। जहाँ-तहाँ मनुष्यों और पशुओं के लिए प्याऊ बैठा दिए। मनुष्यों की चिकित्सा और पशुचिकित्सा का प्रबंध किया। मनुष्यों और पशुओं की उपयोगी औषधियाँ, जहाँ नहीं थीं, लाई और रोपी गईं। इसी प्रकार फल और मूल भी लाए और लगाए गए। सारे साम्राज्य में व्यवहार और दंड की समता स्थापित हो गई।

अशोक ने विदेशों में धर्म-विजय का बड़ा प्रयत्न किया। अनेक देशों में प्रचारक भिक्षुओं को भेजा, जिनमें उसका अपना बेटा महेंद्र भी था। वह अपनी बहन संघमित्रा के साथ पाटलिपुत्र के उसी घाट से, जिसको आज भी महेंद्र कहते हैं, सिंहल द्वीप के लिए रवाना हुआ था; और अपने साथ बोधगया से महाबोधि वृक्ष की एक ओषी ले जाकर उसने सिंहलद्वीप में लगा दी और वहाँ दीप जला दिया। उस वृक्ष का वंशज आज तक उसी स्थान पर खड़ा है और वह दीप अभी तक बुझने नहीं पाया है। शायद संसार में कोई दूसरा उदाहरण ऐसा नहीं है। अशोक के प्रोत्साहन से भिक्षु-संघ ने अनेक भिक्षुओं को चारों तरफ भेजा और कश्मीर, गंधार, महाराष्ट्र, कर्णाटक, यूनान, हिमालय प्रदेश, बर्मा इत्यादि प्रदेशों में भिन्न भिन्न भिक्षु भेजे गए और इस प्रकार समूचे दक्खिन भारत और सिंहल में बौद्ध

धर्म प्रचारित हुआ। यूनान का साम्राज्य उस समय यूनान से ईरान तक फैला हुआ था और इसमें संदेह नहीं कि उस पर बौद्ध धर्म का प्रभाव पड़ा। इस प्रकार अशोक ने धर्मसाम्राज्य, जो राजकीय साम्राज्य से कहीं अधिक विस्तृत था, स्थापित किया'। कुछ लोगों का कहना है कि इस धर्म-प्रचार का ही यह दुष्परिणाम हुआ कि भारतवासियों के स्वभाव में शांति-प्रेम और आध्यात्मिक उन्नति के पीछे मरने की आदत पैदा हुई और जम गई, और भारतवर्ष की राष्ट्रीयता और राजनीतिक गौरव नष्ट हो गए। संसार में बहुतेरे साम्राज्य स्थापित हुए और एक-एक करके विनष्ट हो गए। अपने-अपने समय में यूनान, ईरान, रोम, स्पेन और फ्रांस तथा भारतवर्ष में ही गुप्तों और मुगलों का साम्राज्य अत्यंत प्रभावशाली हुए। उनकी शक्ति सब पर विदित थी। ये सब राजनीतिक साम्राज्य थे। ये सब के सब, और अशोक का राजनीतिक साम्राज्य भी, नष्ट हो गए; पर जो धर्मसाम्राज्य अशोक ने स्थापित किया, वह आज तक कायम है। यद्यपि बौद्ध धर्म अपने जन्मस्थान से लुप्तप्राय हो गया है, पर आज भी संसार के अन्य भागों में उसका ऐसा साम्राज्य है. जो अशोक के समय से कहीं अधिक बढ़ा-चढ़ा है।

अशोक के बाद उसके बेटे कुणाल और उसके बाद उसके दो बेटों दशरथ और संप्रति ने राज्य किया। संप्रति ने जैन धर्म के लिए वही किया, जो अशोक ने बौद्ध धर्म के लिए किया था। उस समय तक मौर्य साम्राज्य उन्नति के शिखर पर था। पाटलिपुत्र प्राचीन काल का सबसे बड़ा नगर था। उसका घेरा २१ $\frac{१}{२}$ मील था। चारों तरफ लकड़ी का परकोटा था, जिसमें ६४ दरवाजे और ५७० गोपुर थे।

§ ७. शुंग-सातवाहन-कुशाण काल

संप्रति के बाद मौर्य साम्राज्य आहिस्ता-आहिस्ता तहस-नहस हो गया और उसकी जड़ पर उत्तरापथ, दक्षिण, पूरब और मध्यदेश में नए राज्य उठ खड़े हुए।

मौर्य साम्राज्य के साथ ही भारत के पच्छिम का यूनानी साम्राज्य भी टूटने लगा। उसके बाख्त्री या बलख प्रांत में, जो हिंदूकुश के उत्तर लगा है, एक यूनानी सरदार स्वतंत्र राजा बन बैठा। ईरान में पार्थव जाति स्वतंत्र हो गई और उसके राजवंश के कारण वह देश पार्थव (पार्थिया) कहलाने लगा। बलख के दक्खिन, अफगानिस्तान में सुभागसेन नामक एक मौर्य सरदार तब शासन करता था।

इसी समय दक्खिन में सिमुक ने अपना राज्य स्थापित किया। उसके वंश का नाम सातवाहन था। शुरू में इस राज्य के अंतर्गत महाराष्ट्र था, पीछे आंध्र भी शामिल हो गया और करीब ४५० बरसों तक वह कैसे भारतवर्ष का प्रमुख राज्य रहा, यह हम अभी देखेंगे। कलिंग में चेदिवंश का राज्य स्थापित हुआ। उस वंश का तीसरा राजा खारवेल बड़ा प्रतापी हुआ। उसने विदर्भ (बराड़) तक अपनी प्रभुता जमा ली और दक्खिन में पांड्य राज्य तक चढ़ाइयाँ कीं। सुभागसेन की मृत्यु के बाद बलख के यूनानी राजा देमेत्रियस ने भारत का उत्तरी मंडल जीत लिया और मध्य-देश पर चढ़ाई कर पाटलिपुत्र तक को आ घेरा। खारवेल ने तब मगध की सहायता की। यूनानियों को खदेड़ता हुआ वह उत्तरापथ तक उनके पीछे गया। मगध के अंतिम मौर्य राजा बृहद्रथ या बृहस्पतिमित्र को अपने राष्ट्र के उस उद्धारक के सामने झुकना पड़ा। खारवेल जैन धर्म का अनु-

यायी था। उड़ीसा में भुवनेश्वर के पास हातीगुंफा की चट्टान पर प्राकृत भाषा में उसकी प्रशस्ति खुदी है, जिसमें उसकी विजयों और प्रजाहित के अन्य महत्वपूर्ण कार्यों का तिथिवार उल्लेख किया गया है। प्राचीन ऐतिहासिक वाङ्मय का वह एक अनमोल लेख है।

खारवेल के लौटने के बाद मगध-मध्यदेश में भी राज्यक्रांति हुई और सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने निकम्मे मौर्य राजा पर अधिकार कर लिया। पिछले मौर्यों ने अशोक के धर्मविजय शब्द की आड़ में जो अपनी कमजोरी छिपानी चाही, यह उसकी प्रतिक्रिया थी। पुष्यमित्र ने "नित्य उद्यतदंडता" की जगह कर्मप्रधान वैदिक धर्म के पुनः प्रचार का प्रयत्न किया। उसकी सारी शक्ति यूनानियों को भारत से निकाल बाहर करने तथा बिखरते हुए साम्राज्य को सँभालने में ही लगी रही। उसके वंशजों का अधिकार पूरबी पंजाब, विदर्भ और अवंती (आधुनिक मालवे) तक रहा। शुंग राजा पाटलिपुत्र के अलावा अयोध्या में और कभी विदिशा (भेलसा) में भी रहते थे। प्रायः एक शताब्दी तक मध्यदेश में उनका राज्य बना रहा।

उस ज़माने में कंबोज और बलख की उत्तरी सीमा पर, आजकल के मध्य एशिया में, शक नामक खानाबदोश जाति रहती थी। कंबोज के पूरबी छोर से चीन के पच्छिमी छोर तक, आजकल के चीनी तुर्किस्तान में, भी शकों से मिलती-जुलती तुखार और ऋषिक (युशि) जातियाँ विचरती थीं। शक, तुखार और ऋषिक सीमा पर हूण लोग रहते थे, जो चीन के सभ्य इलाके में लूट-मार करते थे। अशोक के समय में चीन के एक सम्राट् ने चीन की उत्तरी सीमा के साथ–साथ एक बड़ी दीवार बना दी, जिससे हूणों का चीन में घुसना बंद हो गया। तब वे लोग चीन के पच्छिमी

छोर पर ऋषिक लोगों पर धावे मारने लगे। ऋषिक अपना इलाका छोड़ तुखारों को भी साथ खदेड़ते हुए पहले सीर नदी के काँठे में शकों पर आ टूटे और फिर वलख और कंबोज में आ बसे। मध्यएशिया के शक अफगानिस्तान के उत्तर से पच्छिम घूमते हुए उसके दक्खिन शकस्थान (आधुनिक सीस्तान) में, जहाँ शकों की एक दूसरी शाखा रहती थी, चले आए। शकस्थान तब पार्थव राज्य में था और पार्थव राजाओं ने शकों का दमन किया। कालकाचार्य नामक एक जैन साधु उस समय शकस्थान में धर्म-प्रचार कर रहा था। वह शक सरदारों को सिंध ले आया (लग० १२० ई० पू०)।

सिंध से शकों की एक शाखा गंधार (उत्तर-पच्छिमी पंजाव) की तरफ वढ़ी और दूसरी ने कच्छ-सुराष्ट्र (काठियावाड़) लेने के वाद अवंती को जा दखल किया (१०० ई० पू०)। अवंती से वे विदिशा और मथुरा को वढ़े और वहाँ शुंग राज्य को समाप्त कर दिया। तब मगध में भी राज्य-क्रांति हुई और शुंगवंश के स्थान में कारावंश का राज्य स्थापित हुआ। मथुरा से पंजाव की तरफ वढ़ने पर शकों की दोनों शाखाएँ मिल गईं और राजपूताना और दक्खिन-पूरवी पंजाव के स्वाधीन गणराज्य (प्रजातंत्र) उनके कुंडल में घिर गए। उनसे शकों का संघर्ष वरावर जारी रहा।

उधर शकों ने अपने दक्खिन तरफ सातवाहन राज्य को भी छेड़ा और उससे नासिक और कोंकण के प्रांत छीन लिए। तब सातवाहन राजा गौतमीपुत्र शातकर्णि और शक महाक्षत्रप नहपान में ठन गई। सातवाहनों ने पूरवी राजपूताने के मालव आदि गणों के साथ मिलकर सुराष्ट्र, अवंती और मथुरा से शकों को उखाड़ फेंका (५७ ई०पू०)। अपनी स्वतंत्रता फिर

से स्थापित होने की खुशी में मालवों ने एक संवत् का आरंभ किया, जिसे हम आज विक्रम संवत् के नाम से जानते हैं। इसके शीघ्र बाद उत्तरापथ और सिंध से भी शकों का लोप हो गया।

गौतमीपुत्र के बेटे वाशिष्ठीपुत्र पुलुमावी ने काण्व राजा से मगध भी जीत लिया (२८ ई० पू०)। तब से प्रायः सौ बरसों तक सातवाहन भारत के सम्राट् रहे। उनकी दक्खिनी सीमा तामिल राष्ट्रों तक थी, जो उनके अधीन नहीं तो प्रभाव में अवश्य थे।

भारत और पच्छिमी सभ्य जगत् से तब तक चीन का संपर्क न हुआ था। चीन के सबसे पच्छिमी प्रांत मानसू और भारत के सबसे उत्तरी प्रांत कंबोज के बीच ऋषिक-तुखारों के मूल देश में अब भारत और चीन दोनों तरफ से सभ्यता ने प्रवेश किया। भारतीय तो वहाँ अशोक के समय से ही पहुँच गए थे और उन्होंने खोतन में एक आर्य उपनिवेश स्थापित कर दिया था। खोतन की पुरानी ख्याति है कि वहाँ जब पहला आर्य राजा विजयसंभव राज्य कर रहा था, तभी आर्य वैरोचन ने पहले-पहल वहाँ के पशुपालकों को लिखना सिखाया। खोतन शहर जिस नदी के किनारे बसा है, वह खोतन नदी कहलाती है और आगे चलकर यारकंद दरिया में मिल जाती है। यारकंद तारीम में जा मिली है। यारकंद तुर्की नाम है। उसका पुरानाम सीटा था। चीनी लोग जब वहाँ आए तो सीता नाम प्रसिद्ध हो चुका था। इसी से चीनी भी उसे सी-तो कहने लगे और आज तक भी सी-तो कहते हैं। इस प्रकार चीनियों के आने से पहले ही तारीम के काँठे में भारतवर्ष की सभ्यता और उपनिवेश जम चुके थे। इसी से आधुनिक विद्वान् प्राचीन इतिहास में उस देश को "उपरला हिंद" या चीन-हिंद

(Ser–India) कहने लगे हैं। इस प्रकार ऋषिक-तुखारों के देश में भी भारतीय प्रभाव पहुँच चुका था और जब वे कंबोज-बलख में जा बसे, तब तो वह प्रभाव उन पर और अधिक पड़ने लगा। उनकी बस्तियाँ अब कंबोज (पामीर-बदख्शाँ) और हिंदूकुश के दक्खिन कपिश, कश्मीर और गंधार तक बसी थीं।

ईस्वी सन् के आसपास उनमें एक राजा कुषाण हुआ, जिसने उनके सब फिरकों को एक कर समूचे अफगानिस्तान, कपिश और गंधार को जीत लिया। कंबोज तथा उपरले हिंद पर भी उसका अधिकार था। उसी ने पहलेपहल बौद्ध धर्म की पोथी दूत के हाथ चीन भेजी। कुषाण स्वयं बौद्ध था, पर उसका बेटा विम शैव था। विम ने सारा पंजाब जीत लिया और आगे बढ़ने की चेष्टा की। तब उसका सातवाहनों से संघर्ष हुआ। मुलतान के पास करोड़ के मैदान में सातवाहन राजा से उसका युद्ध हुआ, जिसमें विम खेत रहा।

कुछ समय बाद ऋषिकों में विम का उत्तराधिकारी राजा कनिष्क हुआ। उसने खोतन के राजा विजयकीर्ति के साथ मिलकर गंधार और पंजाब पर दखल जमा लिया और पाटलिपुत्र को भी जीता। मध्यदेश और मगध पूरी तरह कनिष्क के हाथ आ गए। कनिष्क प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् अश्वघोष को पाटलिपुत्र से अपने साथ ले गया। प्रसिद्ध आचार्य चरक भी उसकी सभा में थे। अशोक की तरह कनिष्क ने भी दूर-दूर तक बौद्ध धर्म का प्रचार करवाया। उसके वंश में सम्राट् हुविष्क और वासुदेव प्रसिद्ध हुए। उनका भी उपरले हिंद पर अधिकार रहा और वहाँ की राजभाषा इस युग में भारतवर्ष की एक प्राकृत ही रही।

उत्तर भारत में कनिष्क का साम्राज्य स्थापित होने पर सुराष्ट्र में भी उसके शक क्षत्रप स्थापित हो गए। सातवाहनों का साम्राज्य तब केवल दक्खिन में रह गया। सुदूर दक्खिन में तामिल राज्य थे, जिनमें कभी पांड्य, कभी चोल प्रमुख रहे। तामिल और सातवाहन राजाओं ने समुद्री डाकुओं का दलन कर विदेशी व्यापार खूब बढ़ाया। तामिल राजाओं ने ही नदी के मुहाने पर बाँध बनाकर सिंचाई के लिए पानी ले जाने का तरीका निकाला, जिसको सारे संसार ने पीछे उनसे सीखा।

जिस तरह उपरला हिंद बना, उसी तरह इसी युग में पूरब में एक और हिंद बना, जिसको लोग तब गंगा-पार का हिंद कहते थे और जो अब भी परला-हिंद (Further India) कहलाता है। ऊपर कहा जा चुका है कि महाजनपदों के जमाने में भारत में सामुद्रिक व्यापारी उधर जाने लगे थे और वहाँ सोना मिलने के कारण उसका नाम सुवर्णभूमि उन्होंने रक्खा था। जो आज का फ्रांसीसी हिंदचीन है, वहाँ तक ईस्वी पूर्व की पहली सदी में भारतीय राज्य स्थापित हो चुके थे। पहले कहा जा चुका है कि सुवर्णभूमि के साथ सबसे अधिक और पुराना संबंध चंपा (भागलपुर) के लोगों का था। उन्होंने उसके पूरबी छोर पर चंपा राज्य स्थापित किया और बारह सौ बरसों तक उस चंपा की बड़ी शक्ति और समृद्धि बनी रही। मलक्का, सुमात्रा और जावा द्वीप, ये सब मिलाकर कुछ हिस्सा सुवर्ण द्वीप और कुछ यव द्वीप कहलाते थे। इनमें तथा मदगास्कर द्वीप में भी ईस्वी सन् की पहली सदी में भारतीय बस्तियाँ स्थापित हुईं।

इस प्रकार भारत का विस्तार एक तरफ उपरले हिंद और दूसरी तरफ परले हिंद तक हो जाने से दोनों ओर से उसका संबंध चीन के साथ हो गया। परले हिंद होकर भारत और चीन के बीच स्थल और जल मार्ग

दोनों चलते थे। पहली सदी ईस्वी में धर्मदत्त और कश्यप मातंग नाम-के दो भिक्षु पहलेपहल चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार करने गए और यह सिलसिला आगे शताब्दियों जारी रहा।

पच्छिम तरफ, भारतीय व्यापारी पच्छिमी एशिया, अबीसीनिया, मिस्र, यूनान और रोम तक अपने जहाज ले जाते थे। १२५ ई० पू० के करीव पहले पहल एक भारतीय व्यापारी से ही मिस्र के यूनानियों को मिस्र से भारत तक सीधे आने का समुद्री रास्ता मालूम हुआ। १०० ई० पू० के करीव कुछ भारतवासी अपने एक जहाज में भटककर जर्मनी के तट पर एल्ब नदी के मुहाने पर जा लगे थे। रोम का साम्राज्य धीरे-धीरे भूमध्य-सागर के चारों तरफ कायम हो गया। भारतीय व्यापारी रोम साम्राज्य के सब देशों में पहुँचते और वहाँ बहुत बड़ा व्यापार करते थे। हाथीदाँत का सामान, गंध, मसाले, मोती, रत्न और कपड़ा आदि भारत से वहाँ जाते और बदले में हर साल प्रायः छः लाख स्वर्णमुद्रा भारत आती थी। उस युग के एक रोमन लेखक ने लिखा है कि—"यह मूल्य हमें अपनी ऐयाशी और अपनी स्त्रियों के लिए देना पड़ता है।" रोमन स्त्रियों को भारतीय मलमल पहनने का जो शौक था, उसकी शिकायत करते हुए एक दूसरे रोमन लेखक ने लिखा कि—वे 'बुनी हुई हवा की जालियाँ' पहन-कर अपना सौंदर्य दिखाती थीं!

भारत की यह समृद्धि अपने कारीगरों की बदौलत थी, जिनकी श्रेणियाँ इस युग में पहले से भी अधिक संघटित हो गई थीं। श्रेणियों के विषय में अनेक अभिलेख मिले हैं, जिनसे पता चलता है कि वे अब अपना माल बनाने के सिवा बंकों का काम भी करती थीं। नासिक में इस युग का एक शिलालेख है, जिसमें एक राजा के दामाद के, जो उसका सेनापति भी

था, २००० और १००० कार्षापण की दो "अक्षयनीवियाँ" अर्थात् स्थायी निधियाँ स्थापित करने की बात लिखी है। ये अक्षयनीवियाँ इस तरह स्थापित की गईं कि उनका मूलधन खर्च न हो, और उन पर जो सूद आवे, उससे भिक्षुओं को चीवर मिलते रहें। ये दोनों अक्षयनीवियाँ नासिक के कोरियों (बुनकरों) की दो श्रेणियों के पास धरोहर रक्खी गईं। इसका यह अर्थ है कि बुनकरों की श्रेणियाँ राजा के अपने राज्य से भी अधिक स्थायी समझी जाती थीं। उसी लेख के अंत में लिखा है कि यह दान निगम सभा अर्थात् नगर की सभा में सुनाया गया और चरित्र (सभा के कानून) के अनुसार फलकवार (लेखा-दफ्तर, रिकार्ड-आफिस) में निबद्ध (रजिस्टर्ड) किया गया। इससे यह मालूम होता है कि राजकीय कार्यों की रजिस्टरी भी नगरों की सभाओं में होती थी। नगरों की तरह जनपदों की भी परिषदें थीं और राजा उनकी सहायता से ही राज्य करते थे।

इस समूचे युग में भारत में सातवाहन साम्राज्य का बड़ा प्रभाव रहा, इसलिए इसको सातवाहन युग कहना अनुचित नहीं होगा।

बौद्ध धर्म की दो प्रधान शाखाएँ इसी काल में हो गईं--एक हीनयान, जो अब सिंहल और बर्मा में प्रचलित है और दूसरी महायान, जो तिब्बत और चीन आदि में फैली। यह एक अत्यंत आश्चर्यजनक घटना है कि बौद्ध धर्म अपने जन्म के देश भारतवर्ष से एकबारगी उठ गया और भारतवर्ष के बाहर जाकर स्थापित हो गया और आज भी कायम है। यह बाहर फैलने की घटना प्रायः सातवाहन युग में ही हुई। इसी युग में पौराणिक धर्म, जिसका मूल वैदिक धर्म से ही मिलता है, भारतवर्ष में स्थापित हुआ। संस्कृत भाषा की बड़ी उन्नति हुई और बौद्ध धर्म के ग्रंथ भी, जो उसके पहले पाली भाषा में लिखे जाते थे, संस्कृत में ही लिखे जाने



(फोटो, पटना म्यूज़ियम)

नासिक का एक गुहामंदिर



लगे। विद्वानों का विचार है कि इसी युग में भारतवर्ष के प्रसिद्ध वैद्य चरक और सुश्रुत, रासायनिक नागार्जुन, मीमांसादर्शन के प्रवर्त्तक जैमिनि, वैशेषिक दर्शनकार कणाद, न्यायदर्शन के संस्थापक अक्षपाद गौतम, वेदांत के प्रवर्त्तक बादरायण हुए। स्मृतियों का निर्माण भी इसी युग में बतलाया जाता है। अमरकोष इसी समय बना। संस्कृत काव्य में कालिदास के अग्रगामी महाकवि अश्वघोष भी इसी युग के थे। इस युग में कला की भी बड़ी उन्नति हुई। उस समय के, गुफाओं में काटकर बनाए हुए, चैत्य और मंदिर, जो महाराष्ट्र और उड़ीसा में मिलते हैं, कला के सुंदर नमूने हैं। एक-एक मंदिर केवल एक-एक चट्टान को काटकर बना है। इनकी कारीगरी आश्चर्यजनक है। भरहुत और साँची के स्तूपों के जँगले और तोरण इसी समय के हैं, जिनकी कारीगरी अद्भुत है।

§ ८. वाकाटक-गुप्त काल

दूसरी शताब्दी के अंत में सातवाहनों का साम्राज्य टूटने लगा और उसकी जगह कई राज्य स्थापित हो गए। उत्तर भारत से भारशिवों ने कनिष्क-वंशजों को निकाल दिया। उनका राज तब काबुल और बलख में रह गया। विंध्य प्रदेश में वाकाटक वंश का भारशिवों का एक सेनापति था, जो विंध्यशक्ति नाम से प्रसिद्ध हुआ। विंध्यशक्ति के बेटे प्रवरसेन ने प्रायः सारे भारत को साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया और वह भारशिव सम्राट् का उत्तराधिकारी बना। तीसरी सदी के अंत में अयोध्या में गुप्त नाम का एक राजा था। उसके पोते चंद्रगुप्त ने मिथिला के लिच्छवियों से संबंध जोड़कर अपनी शक्ति बढ़ा ली। इसी चंद्रगुप्त का बेटा समुद्र-

गुप्त था, जिसने प्रवरसेन की मृत्यु होते ही पाटलिपुत्र पर चढ़ाई की (३४४ ई०), और भारत का दिग्विजय कर साम्राज्य प्राप्त किया। वाकाटकों का राज्य बुंदेलखंड—महाराष्ट्र में बचा रहा। इलाहाबाद के किले में अशोक के स्तंभ पर समुद्रगुप्त की प्रशस्ति खुदी है, जो अपने ऐतिहासिक महत्व के अतिरिक्त संस्कृत काव्य की दृष्टि से भी एक सुंदर कृति है। उससे मालूम होता है कि भारत के मुख्य भाग के अतिरिक्त काबुल, बलख, सिंहल तथा बृहत्तर भारत के द्वीपों में भी समुद्रगुप्त का आधिपत्य माना जाने लगा था और वहाँ के शासकों ने बहुमूल्य भेंटें भेजकर उसका सिक्का अपने राज्यों में चलाना स्वीकार किया तथा अपने-अपने प्रदेश में शासन करते रहने को उसके परवाने माँगे थे। अद्वितीय विजेता होने के अतिरिक्त वह स्वयं बहुत अच्छा शासक और पंडित भी था।

समुद्रगुप्त का बेटा चंद्रगुप्त हुआ, जो अपनी विजयों के कारण विक्रमादित्य कहलाया। उसने काबुल और बलख को भी जीता। दिल्ली के पास महरौली की प्रसिद्ध लोहे की लाट पर अत्यंत ओजस्वी और ललित संस्कृत काव्य में उसी की बलख-विजय की कीर्त्ति खुदी है। वह लाट पहले पंजाब में हिमालय में थी। बहुत पीछे राजा अनंगपाल ने उसे वहाँ से दिल्ली ले जाकर खड़ा किया।

चंद्रगुप्त विक्रमादित्य की लड़की प्रभावती का विवाह वाकाटक राजा से हुआ था। अपने पति के मर जाने और पुत्र के छोटा होने से वह स्वयं राज करती थी। चंद्रगुप्त और प्रभावती का राज्य समकालिक था, इसलिए तब समूचा भारत एक तरह से एक साम्राज्य में था। चीन के थियानशान पर्वत से पूर्बी चंपा (वर्त्तमान आनाम या फ्रांसीसी हिंद चीन) तक समस्त

पृथ्वी तब भारतवर्ष में गिनी जाती थी। चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के बाद क्रमशः कुमारगुप्त और स्कंदगुप्त भी बड़े पराक्रमी सम्राट् हुए।

ईस्वी सन् की चौथी सदी के अंत में हूण लोग उत्तरी-पूरबी एशिया से फिर निकले। उनकी एक शाखा ने यूरोप पहुँचकर रोम साम्राज्य में तबाही मचा दी। दूसरी शाखा मध्य एशिया में आई। बाद में यही हूण अपनी एक शाखा तुर्क के नाम से तुर्क कहलाने लगे और इनके बस जाने से मध्य एशिया तुर्किस्तान बना। मध्य एशिया में हूणों का भारतीय शक-तुखारों और ईरान के सासानी शाहों से मुकाबला हुआ। उन्हें हराकर अफगानिस्तान लाँघते हुए वे भारत के भीतर तक घुस आए। स्कंदगुप्त ने घोर युद्ध के बाद उन्हें हराकर भगा दिया और सारे साम्राज्य में शांति और व्यवस्था फिर से कायम की। हूणों ने उस समय संसार में किसी से हार खाई तो एक स्कंदगुप्त से। स्कंदगुप्त की उस जीत का वृत्तांत एक स्तंभ पर सुंदर संस्कृत पद्यों में खुदा है, जो आज भी गाजीपुर जिले के सैदपुर भितरी गाँव में खड़ा है। उस हार के बाद हूणों ने ३० बरस तक भारत की तरफ मुंह न फेरा। किंतु स्कंदगुप्त के बाद के गुप्त समाट् वैसे योग्य और जागरूक न रहे। उनकी कमजोरी का पता पाकर हूणों ने फिर चढ़ाई की और पंजाब से मालवा तक का प्रदेश दखल कर लिया।

गुप्त सम्राट् जब अपने देश की रक्षा न कर सके, तब यशोधर्मा नामक एक जनता का नेता उठ खड़ा हुआ, जिसने हूणों को कश्मीर तक से खदेड़कर देश को स्वतंत्र किया। यशोधर्मा ने इसके बाद पूरब के नाम-धारी गुप्त सम्राट् को पदच्युत कर लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) से महेंद्रगिरि (उड़ीसा) और हिमालय से पच्छिम समुद्र पर्यंत समूचे देश का राज्य अपने हाथ में लेकर पूरी शांति और सुव्यवस्था का शासन स्थापित किया (५३३ ई०),

ग्वालियर राज्य के मंदसोर या दासोर नामक स्थान में, जो प्राचीन दशपुर है, एक स्तंभ के ऊपर ओजस्वी संस्कृत पद्यों में यशोधर्मा की यह कीर्त्ति-कथा खुदी ।

वाकाटक और गुप्त सम्राटों का युग भारतीय इतिहास का स्वर्ण युग था। भारतीय जीवन—ज्ञान, सभ्यता, संस्कृति, हर पहलू से—इस युग में पूर्णता को पहुँच गया। कला, साहित्य और विचार की दृष्टि से भारतीय मस्तिष्क की उड़ान इस युग में जहाँ तक पहुँच गई, उसकी परिधि को अगले एक हज़ार बरस तक संसार प्रायः नहीं लाँघ सका। महाकवि कालिदास, ज्योतिषी आर्यभट और वराह मिहिर, दार्शनिक आसंग, वसुबंधु और ईश्वरकृष्ण, बुद्धघोष और दिङ्नाग सब इसी युग में हुए। विष्णु शर्मा का पंचतंत्र, जो संस्कृत के कहानी-साहित्य में अपना जोड़ नहीं रखता, इसी युग की अमर रचना है। इसके अतिरिक्त महाकवि विशाखदत्त और मृच्छकटिककार शूद्रक भी इस युग में ही हुए। स्मृति और धर्म ग्रंथों की अनेक रचनाएँ भी इसी युग की हैं।

गुप्तों की शासन-व्यवस्था बहुत ही सुसंघटित और आदर्श थी। भारत ने जैसी सुख-शांति और समृद्धि गुप्त-शासनकाल में अनुभव की, वैसी न शायद पहले की थी और न बाद में अभी तक की है। समूचा गुप्त साम्राज्य बहुत से 'देशों' और 'भुक्तियों' में बँटा हुआ था। इन्हीं में से एक तीरभुक्ति आधुनिक तिरहुत है। प्रत्येक का शासन एक 'गोप्ता' या 'उपरिक महाराज' करता था। देश या भुक्ति छोटे-छोटे विषयों अर्थात् जिलों में बँटी होती थी। शासन के लिए अलग-अलग महकमे थे। गुप्त-शासनपद्धति की नकल दूसरे राजाओं ने की और बाद भी उनकी नकल होती रही। उस युग की बहुत-सी मुहरें पाई गई हैं, जिनसे पता

चलता है कि ग्रामों और नगरों की पंचायतें स्वतंत्रतापूर्वक अपना भीतरी प्रबंध करती थीं। जनपदों की संघटित राष्ट्र-सभाएँ भी थीं। वैशाली में व्यापारियों के निगमों और कारीगरों की श्रेणियों की मुहरें काफी संख्या में पाई गई हैं। ये सब श्रेणियाँ पहले से अधिक संघटित और समृद्ध थीं। दूर-दूर के देशों के साथ वाणिज्य-व्यापार चलता था। २७४ ई० में रोम-सम्राट् को एक कश्मीरी शाल भेंट किया गया था, जिसकी नफ़ासत से वहाँ के लोग स्तब्ध हो गए थे। भारतीय उपनिवेश इस युग में और आगे तक फैलते गए। हिंदी द्वीपावली में भारतीय राज्य बोर्नियो द्वीप के पूरबी छोर तक पहुँच गए, जहाँ चौथी सदी के राजा मूलवर्मा के बनवाए खंभे और संस्कृत के लेख अब भी मौजूद हैं। जावा में भी उसी समय का राजा पूर्णवर्मा का संस्कृत लेख पाया गया है। सुवर्ण द्वीप में चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के समय शैलेंद्रवंश का राज्य स्थापित हो गया, जो शीघ्र बाद एक साम्राज्य बन गया, जिसमें अड़ोस-पड़ोस के सब द्वीप सम्मिलित हो गए। उन द्वीपों में आज भी ऐसी चीजें मिली हैं, जो उस वक्त की उन्नत कला और समृद्ध दशा का परिचय देती हैं। उस साम्राज्य की राजधानी श्रीविजय थी। श्रीविजय के जहाज पूरब चीन और पच्छिम मदगास्कर और मिस्र तक जाते थे।

उस समय का वर्णन चीनी यात्री फाहियान ने लिखा है। वह चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के समय में कई बरसों तक भारत में रहा था। उसने लिखा है कि भारतवर्ष दुनियाभर से बढ़कर सभ्य देश है। प्रजा प्रसन्न और सदाचारी है; लोग नशा नहीं खाते, अपराध बहुत कम होते हैं, दंड बहुत हलके दिए जाते हैं और मृत्युदंड किसी को नहीं दिया जाता। अपनी लंबी यात्रा में उसको कहीं भी चोर-डाकुओं का मुकाबला नहीं करना पड़ा। वह

चंपा (भागलपुर) से ताम्रलिप्ति (तामलूक) के रास्ते जहाज़ पर सवार होकर सिंहल होते यवद्वीप पहुँचा। यवद्वीप से एक जहाज में, जिसमें २०० भारतीय व्यापारी भी थे, वह चीन वापस गया।

इधर फाहियान हिंदुस्तान में यात्रा कर रहा था, उधर एक भारतीय विद्वान् कुमारजीव चीन पहुंचा और वहाँ बस गया। उसने अश्वघोष, नागार्जुन आदि के ग्रंथों का चीनी में अनुवाद किया। समुद्रगुप्त के समय कोरिया में बौद्ध धर्म स्थापित हो गया और वहाँ भारत की ब्राह्मी लिपि बर्त्ती जाने लगी। यशोधर्मा के समय (५३८ ई०) में जापान देश भी बौद्ध हो गया। कश्मीर का एक युवराज गुणवर्मा बौद्ध भिक्षु बन गया था। उसने यवद्वीप में बौद्ध धर्म का प्रचार किया। इसी युग में वलभी (काठियावाड़) की एक परिषद् में विद्वानों ने जैन आगमों का संपादन किया। अजंता की जिस चित्रकला का हम ऊपर वर्णन कर आए हैं, वह भी इसी युग की है। उसी कला की शैली के चित्र उपरले हिंद के पूरबी छोर से—चीन के सीमांत से—भी पाए गए हैं और जापान के बौद्ध मठों के चित्रों में भी उसी शैली की नकल की गई है।

ऊपर कहा जा चुका है कि भारत का प्रभाव एक तरफ़ चीन, कोरिया, जापान तक पहुंचा। अगले युगों में वह उत्तर तरफ तिब्बत और मंगोलिया में तथा पच्छिम अरब के रास्ते यूरोप तक भी पहुँचा और यद्यपि इस बात की अभी पूरी खोज नहीं हुई है, पर मालूम होता है कि वह परले हिंद के द्वीपों के रास्ते दक्खिन अमेरिका तक भी पहुंच गया था।

§ ९. मध्यकाल

यशोधर्मा ने अपना कोई राजवंश नहीं स्थापित किया था। उसके बाद गुप्त साम्राज्य को पुनर्जीवित करने की चेष्टा की गई और पिछले गुप्तों का

एक वंश उठ खड़ा हुआ। पर उसका अधिकार प्रायः बिहार-बंगाल तक परिमित रहा, और मध्यदेश में उसके मुकाबले में मौखरियों का एक नया राजवंश, जिसने हूणों के खिलाफ युद्ध में प्रसिद्धि पाई थी, खड़ा हो गया। मौखरियों की राजधानी कन्नौज थी और अब से वही पाटलिपुत्र के बजाय उत्तर भारतीय साम्राज्य का केंद्र मानी जाने लगी। महाराष्ट्र-कर्णाटक में चालुक्य नामका एक नया वंश खड़ा हुआ और तामिल देश पल्लवों के अधिकार में रहा। प्राचीन कुरुक्षेत्र में भी एक नया वंश, जो मौखरियों की तरह हूण-युद्ध में प्रसिद्ध हुआ था, राज करने लगा। छठी सदी के अंत में इस वंश के राजा प्रभाकरवर्धन ने पंजाब-राजपूताना पर अपना अधिकार फैला लिया। उसकी बेटी राज्यश्री का विवाह मौखरि राजा ग्रहवर्मा से हुआ था। प्रभाकरवर्धन की मृत्यु और ग्रहवर्मा के मारे जाने पर राज्यश्री के भाई हर्षवर्धन ने अपनी बहन के प्रतिनिधिरूप में कन्नौज का राज्य भी सँभाला और कुरु-पंचाल की सम्मिलित शक्ति से समूचे उत्तर भारत में साम्राज्य स्थापित किया।

हर्ष के पीछे गुप्त साम्राज्य को फिर खड़ा करने का अंतिम यत्न किया गया, पर कन्नौज के राजाओं के मुकाबले में अंतिम गुप्तों का राज्य मिट गया और ८वीं सदी के पूर्वार्ध में मगध-मिथिला-बंगाल में अराजकता छा गई। उधर अरब में इस्लाम ने एक नई शक्ति को जगा दिया था। अरब लोग रोम साम्राज्य के पूरबी देशों और ईरान को जीतते हुए ७वीं सदी के मध्य में मकरान और अफगानिस्तान की सीमा पर पहुँच गए। अगले सवा सौ बरसों में उन्होंने अफगानिस्तान पर अनेक चढ़ाइयाँ कीं, पर सब में विफल हुए। वे अफगानिस्तान के पच्छिम से उत्तर घूम मध्य एशिया में घुसे और इधर उन्होंने सिंध पर हमला कर उसे जीत लिया (७१२ ई०)। छठी

सदी के अंत में उपरले हिंद, कश्मीर और हिमालय तराई के प्रदेशों से भारतीय लिपि, धर्म और सभ्यता तिब्बत पहुँची, जिससे तिब्बती लोग जागृत हुए और हर्षवर्धन के समय वहाँ पहला साम्राज्य स्थापित हुआ। तिब्बती भी अब मध्य एशिया की तरफ बढ़े और ८वीं सदी के अंतिम भाग में उन्होंने खोतन के हिंदू राज्य को समाप्त कर दिया।

इस बीच ८वीं सदी के मध्य में मगध-मिथिला-बंगाल के नेताओं ने मिलकर गोपाल नामक व्यक्ति को अपना राजा चुन लिया था। राजपूताने में प्रतिहार और दक्खिन में चालुक्य के स्थान में राष्ट्रकूट राजवंश स्थापित हो गए थे। पालों-प्रतिहारों की चढ़ा-ऊपरी में लगभग ८३६ ई० में प्रतिहार राजा मिहिरभोज ने कन्नौज को जीतकर अपनी राजधानी बनाया। और पुंड्रवर्धन (राजशाही—पुर्णियाँ) से सुराष्ट्र (काठियावाड़) तक तथा उड़ीसा से कश्मीर—मुलतान की सीमा तक अपना साम्राज्य फैला लिया। इसी मिहिरभोज का बसाया हुआ हमारा भोजपुर है, जिसके नाम से बिहार के पच्छिमी भाग की बोली भोजपुरी कहलाती है। प्रायः एक शताब्दी तक प्रतिहार और राष्ट्रकूट साम्राज्य अपने यौवन पर रहे; उसके बाद वे शिथिल पड़ने लगे और भिन्न-भिन्न प्रांतों में प्रादेशिक राज्य खड़े हो गए।

मध्य एशिया में जो हूण-तुर्क बस गए थे, उन्होंने वहाँ प्रचलित बौद्ध धर्म को और उसके साथ भारतीय सभ्यता और संस्कृति को अंशतः अपना लिया था। उपरले हिंद की खुदाई में संस्कृत बौद्ध ग्रंथ और उनके तुर्की अनुवाद भी पाए गए हैं। आठवीं सदी के मध्य में अरबों के मध्य एशिया में सफल होने पर तुर्कों में इस्लाम फैलने लगा। अरब खलीफाओं का

साम्राज्य भी शिथिल हो गया और उसमें जहाँ-तहाँ तुर्क सरदारों ने सल्त-नतें बना लीं। १० वीं सदी के अंतिम भाग में बोखारा से एक तुर्क सरदार ने गज़नी पर चढ़ाई कर वहाँ अपनी जागीर खड़ी कर ली। उसके वंशज महमूद ने ११ वीं सदी के आरंभ में समूचे अफ़गानिस्तान, पंजाब और सिंध को जीत लिया तथा कन्नौज और सुराष्ट्र तक धावे किए।

नवीं सदी के अंत से तांजोर में एक चोल राजवंश स्थापित था। इस वंश के राजराज और राजेंद्र चोल सुबुकगीन और महमूद गजनवी के समकालिक थे। जैसे गज़नवी सुलतानों ने भारत के उत्तरी और पच्छिमी राज्यों पर चढ़ाइयाँ कीं, वैसे ही इन चोल राजाओं ने दक्खिनी और पूरबी राज्यों पर चढ़ाइयाँ कीं। राजेंद्र चोल ने तो अपने जंगी बेड़े से बर्मा और श्रीविजय साम्राज्य (सुमात्रा, जावा, मलक्का) पर भी चढ़ाई कर उन्हें जीत लिया।

मालवा का राजा भोज, जिसकी राजधानी धारा थी; और चेदि का राजा कर्ण, जिसकी राजधानी त्रिपुरी थी, महमूद और राजेंद्र के समकालिक थे। उन दोनों के राज्य भारत के ठीक बीच में होने से तुर्कों और तामिलों की चढ़ाइयों से बचे रह गए थे। ग्यारहवीं सदी के मध्य में वे दोनों दूसरे सब राज्यों से प्रबल हो उठे। अन्य प्रदेशों में भी कुछ में नए प्रादेशिक राज्य उठ खड़े हुए, कुछ में पुराने ही सँभल गए और पौने दो सौ बरसों तक उन्होंने देश में शांति और व्यवस्था बनाए रक्खी। सरहिंद से पूरब का प्रदेश तुर्कों से वापस लिया गया। कन्नौज में गाह-ड्वाल या गहरवार राजवंश स्थापित हुआ, जिसने मगध को भी जीत लिया और मिथिला को अपने आधिपत्य में ले लिया। किंतु ईस्वी सन्

की बारहवीं सदी के अंत में जब उत्तर भारत पर तुर्कों का दूसरा हमला हुआ और तेरहवीं-चौदहवीं की संधि पर दक्खिन भारत पर, तब प्रायः सभी हिंदू राज्य घुन-खाए पेड़ों की तरह दो-चार ठोकरें खा-खाकर गिरते गए।

यशोधर्मा के बाद प्राचीन काल का अंत और मध्य काल का आरंभ माना जाता है। यह स्पष्ट है कि गुप्त काल के बाद भारतीय राज्यों ने कोई उन्नति नहीं की, बल्कि धीरे-धीरे उनकी अवनति होती गई। तो भी यह बात भूलनी न चाहिए कि अरबों के मुकाबले में ईरान जैसे एक ठोकर में ही गिर गया और रोम साम्राज्य ने अपना बड़ा हिस्सा गँवा दिया, वैसी बात भारत में न हुई, और छः शताब्दियों तक यहाँ मुकाबला जारी रहा। राजनीतिक शक्ति में जैसे हमारा आगे बढ़ना बंद हो गया, वैसे ही ज्ञान में भी इस काल में प्रगति प्रायः रुक गई। नए विचार पैदा न हुए, तो भी विद्या और कला का अभ्यास जारी रहा। कश्मीर, कन्नौज और धारा के विद्याकेंद्र तथा नालंदा और विक्रमशिला के विद्यापीठ, जिनमें चीन, तिब्बत, अफगानिस्तान और परले हिंद से विद्यार्थियों और विद्वानों का आना-जाना लगा रहता था, इसी काल के थे। मगध के राजा देवपाल के समय (लगभग ८१०—८५१ ई०) श्रीविजय के शैलेंद्र राजा बलपुत्रदेव वर्मा ने नालंदा में अपने देश सुवर्णद्वीप और यवभूमि (सुमात्रा-जावा) के विद्यार्थियों के लिए एक विहार बनवाया था, यह बात नालंदा से ही पाए गए एक ताम्रपत्र पर खुदे संस्कृत लेख में लिखी है। वह लेख अब नालंदा म्यूज़ियम में रक्खा है।

बिहार के पास घोसरावाँ गाँव से पाए गए एक ताम्रपत्र से हमें इसी समय की और मनोरंजक बातें मालूम हुई हैं। इसमें लिखा है कि उत्तरा-

पथ में सब देशों से उत्तम नगरहार नामक देश है। नगरहार अफगानिस्तान का निंग्रहार इलाका है, जिसका मुख्य नगर अब जलालाबाद है। वहाँ द्विजवंश में इंद्रगुप्त नामक कुलीन ब्राह्मण हुआ। उसकी गृहिणी रज्जेका का पतिव्रताओं में प्रथम स्थान था। उन दोनों के वीरदेव नामक पुत्र हुआ, जो वेद–शास्त्र पढ़ने के बाद कनिष्क महाविहार में आचार्य सर्वज्ञशांति के पास तपश्चर्या करता रहा (कनिष्क महाविहार पेशावर में था)। वीरदेव अपने गुरु के अनुरूप शिष्य हुए। एकबार वे वज्रासन (बोधगया) की वंदना करने के लिए महाबोधि (गया) आए। वहाँ से वे यशोवर्मपुर विहार (शायद घोसरावाँ) में गए, जहाँ उनके अपने देश के भिक्षु रहते थे। वहाँ रहते हुए राजा देवपाल ने उनकी अभ्यर्थना की और उन्हें संघ के नियमानुसार नालंदा के परिपालन के लिए नियत किया।

इस प्रकार इन लेखों से यह जाना जाता है कि नवीं सदी के मध्य में नालंदा विद्यापीठ के प्रधान आचार्य एक अफगान विद्वान् थे और उनके शिष्यों में सुमात्रा-जावा के विद्यार्थी भी अच्छी संख्या में थे। अफगानिस्तान में तब तक वेद-शास्त्रों का पठन-पाठन जारी था। याद रहे कि उससे सवा सौ बरस पहले से सिंध में अरब शासन स्थापित हो चुका था। पर सिंध और मध्य एशिया (बोखारा-समरकंद) से अरब लोग हिंदू विद्वानों को दमिश्क और बगदाद ले गए और वहाँ संस्कृत के गणित, ज्योतिष, वैद्यक, नीति, इतिहास आदि के सैकड़ों ग्रंथ अरबी में अनूदित किए गए, और उन्हीं के द्वारा भारत का ज्ञान यूरोप पहुँचा, जिससे वहाँ ५–६ शताब्दी बाद जागृति की एक नई लहर चली।

मध्यकाल के विद्वानों और साहित्यकारों में भी अनेक बड़े-बड़े नाम उल्लेखनीय हैं। ज्योतिषी ब्रह्मगुप्त, भट्टोत्पल, लल्ल और भास्कर, कवि

भवभूति, भारवि, दंडी, राजशेखर, माघ और श्रीहर्ष, ऐतिहासिक कल्हण, दार्शनिक धर्मकीर्त्ति, शांतरक्षित, कुमारिल और शंकर, कोष-व्याकरणकार हेमचंद्र, स्मृतिलेखक मेधातिथि, अपराजित और विज्ञानेश्वर—सब इसी काल के हैं।

भारतीय कला के कुछ अत्यंत सुंदर नमूने, जिनका पीछे उल्लेख किया गया है, जैसे—वेरूल, पुरी और तांजोर आदि के मंदिर, भी इसी काल के हैं। ज्ञान के समान कला भी इस काल में पूर्णता को पहुँच गई। पर अपने सौंदर्य की पूर्णता में भी वह गुप्तकालिक कला के सरल ओज को नहीं पहुंच पाती और नवीं सदी के बाद अवनति स्पष्ट दिखाई देने लगती है। रचना के स्वाभाविक सौंदर्य का स्थान अलंकरण और भूषा लेने लगती है।

ईस्वी सन् की तेरहवां से पंद्रहवी सदी तक दिल्ली की पहली सल्तनत का युग है। इस युग में तुर्कों की प्रधानता रही, तो भी अनेक प्रांतों में हिंदुओं ने अपनी स्वतंत्रता बनाए रखी। वैसे प्रांतों में हमारी मिथिला का प्रथम स्थान है। दिल्ली और लखनौती में तुर्क सल्तनत स्थापित हो जाने पर भी मिथिला में सन् १३२५ ई० तक कर्णाट राज्य स्वतंत्र बना रहा। उसके बाद प्रायः तीस-चालीस बरस ही मिथिला पर दिल्ली का अधिकार रहा था कि कामेश्वर ठाकुर के वंशजों ने उसे फिर स्वाधीन कर लिया और पंद्रहवीं सदी के अंत तक स्वाधीन रक्खा। कर्णाटों और ठाकुरों के शासनकाल में मिथिला में अनेक विद्वानों को आश्रय मिला। विद्यापति ठाकुर कामेश्वर-वंश के ही आश्रित थे। स्मृति-ग्रंथों पर अनेक निबंध इस युग में मिथिला में लिखे गए।



पाँचवाँ अध्याय

उपसंहार

§ १: संस्कृत अध्ययन की उचित दिशा

मैं इतनी देर तक और इतना संस्कृत साहित्य के अध्ययन से निकले नतीजों पर कह गया और तो भी मैं जानता हूँ कि विद्वान् लोग समझेंगे, और ठीक ही समझेंगे, कि जो कुछ मैंने कहा है वह बहुत कम है और अधूरा है। इससे कहीं अधिक महत्व उसका है। मेरा कहने का तात्पर्य यह है कि उसमें जितना गहरा जाया जाय, उतने ही सुंदर और मूल्यवान रत्न उसमें से निकाले जा सकते हैं।

मैंने ऊपर कहा है कि आधुनिक रीति से संस्कृत का अध्ययन यूरोपीय विद्वानों ने आरंभ किया था। इस देश में संस्कृत के पठन-पाठन की रीति तो बराबर से चली आ रही है और वह कभी बंद नहीं हुई। पर आज से प्रायः ११-१२ सौ बरस पहले उसकी उन्नति का स्रोत बंद हो गया। इतने दिनों में उसमें उस प्रकार के ग्रंथ नहीं लिखे गए और न उसके पंडितों ने संसार की विद्या में किसी प्रकार का इजाफा किया है। ऐसा जान पड़ता है कि अपनी तरुण अवस्था में पहुंचकर मानो उस पर किसी आगंतुक व्याधि ने हमला कर दिया और उसको निपंग बना दिया।

विद्वानों ने अध्ययन किया, पर उनमें वह प्रतिभा नहीं देखने में आती, वह शक्ति नहीं नज़र आती, वह खोज की पिपासा, वह निर्भीकता नहीं मिलती, जिसके विना कोई भी मौलिक काम नहीं हो सकता। आज फिर कुछ ऐसे लक्षण दीखने लगे हैं कि संसार में एक नई लहर चलेगी और वह वहुत कुछ इसमें अंतर डालेगी। इसमें क्या संस्कृत विद्वानों का भी कुछ हाथ रहेगा? क्या वे भी आज की जटिल समस्याओं के सुलझाने में कुछ मदद पहुँचावेंगे? क्या वे भी इस देश की कठिनाइयों को दूर करने में कुछ भाग लेंगे? अथवा वे पिष्टपेषण करके ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मान लेंगे? यद्यपि आविष्कार और मौलिकता के स्रोत को रुके प्रायः हजार-बारह सौ वरस हो चुके हैं, पर जो कुछ उसके पहले हमारे पूर्वजों ने किया था, उसका असर वहुत दिनों तक रहा और आज भी हमारे जीवन में है। उन्होंने जो नींव डाली थी, उसी पर आधुनिक समय की नींव भी है। मुसलमानी राज्य के समय हमारी सभ्यता और संस्कृति वहुत अंशों में अछूती वच गई और मुसलमानों ने भी उससे वहुत कुछ अपनी रोज़ाना की ज़िंदगी में लिया। यह कोई नहीं कह सकता कि जो कुछ मुसलमान साम्राज्य ने भारत में किया, उसमें हिंदुओं की कुछ देन नहीं है। आज यही सोचना और देखना है कि क्या इस अध्ययन में हम ऐसी जान डाल सकते हैं कि वह फिर सजीव हो उठे और सजीव होकर नई उत्पत्ति का कारण वन सके? उसमें जान है—नहीं तो हम, हमारी सभ्यता और संस्कृति, आज तक जीवित नहीं रहते। इतने हमलों को सहकर भी जीवित रहना कोई कम गौरव की वात नहीं है। आज इसमें फिर मृतसंजीवनी भरने की जरूरत है, इसका कायाकल्प करने की जरूरत है, और तव हम देखेंगे कि फिर हम इसके सहारे उठ सकते

हैं—अपने पैरों पर खड़े हो सकते हैं, और, अगर ईश्वर ने मद की तो, औरों के आगे होकर चल सकते हैं।

सर जगदीशचंद्र बसु ने जब यह आविष्कार किया और आधुनिक यंत्रों द्वारा आधुनिक रीति से प्रमाणित कर दिया कि पौधों और धातुओं में भी उसी तरह की जीवन-शक्ति है, जिस तरह की जानवरों और मनुष्यों में—वह उसी तरह सोते हैं और जागते हैं—खाते हैं और रहते हैं—और मरते हैं—औषध और विष का उन पर भी असर पड़ता है, तो वे सहसा कह उठे कि मैंने आज कोई नई चीज नहीं निकाली या प्रमाणित की है—मैंने वही बात आधुनिक रीति से देख ली है और दिखला दी है, जिसको हमारे पूर्वजों ने गंगा के किनारे और भारत के जंगलों में आज से सहस्रों बरस पहले देखा और दिखलाया था और प्रमाणित तथा घोषित किया था। क्या हमारे दूसरे विद्वान् इसी प्रकार से पूर्वप्रचारित तथ्यों को आधुनिक जामा पहनाकर संसार के सामने रख सकते हैं? क्या वे संसार की संपत्ति में कुछ दान दे सकते हैं? मेरा विश्वास है कि हम जरूर कर सकते हैं और हमको करना भी चाहिए। पर इसके लिए हमें अपने को तैयार करना है, योग्य बनाना है, और इस तैयारी में कुछ नया लेना होगा—कुछ पुराना छोड़ना होगा। एक प्रकार से हमें पुनर्जन्म लेना है और जन्म के साथ जो कष्ट अनिवार्य हैं, उन्हें सहना पड़ेगा। इसका एक उपाय है—पठन-पाठन की रीति में कुछ हेर-फेर।

मैं मानता हूँ कि संस्कृत अध्ययन की जो रीति परंपरा से चली आई है वह अपने ढंग की अच्छी है। हमने उस रीति से शिक्षित पंडितों को देखा है और ऐसे पंडितों को भी देखा है, जिन्होंने उस रीति से संस्कृत विद्या में

शिक्षा नहीं पाई और नए ढंग से हम जिस तरह अंग्रेजी पढ़ते और सीखते हैं, उसी तरह से संस्कृत भी सीखी है। मेरी तुच्छ सम्मति में पुराने ढंग की शिक्षा पंडितों को प्रस्तुत विद्या देती है—उनको किसी वाह्य पदार्थ पर बहुत निर्भर करने की जरूरत नहीं रहती। ग्रंथों को भी वे बहुत कुछ मुखस्थ ही रखते हैं। यह एक बड़ी चीज़ है और संसार की सभ्यता में हमने वाह्य पदार्थों पर कम से कम निर्भर रहने की सीख अनेक प्रकारों से दी है। मैं चाहता हूँ कि यह पद्धति जारी रहे। इसके बिना वह गहराई नहीं आ सकती, जिसकी हमें जरूरत है; पर हमको यह भी मानना पड़ेगा कि इतना ही काफी नहीं है। अब केवल संस्कृत की प्राचीन विद्या से ही काम नहीं चलेगा। जो कुछ संसार के विद्वानों ने आज तक कर दिखाया है, उसको भी हमें जानना चाहिए और यह देखना चाहिए कि नए और पुराने का समन्वय और सामंजस्य हम कैसे कर सकते हैं। मेरा विश्वास है कि इस प्रकार हम फिर भी संसार की विद्या में बहुत कुछ दे सकेंगे।

उदाहरण के लिए आयुर्वेद को लीजिए। आज यंत्रों के युग में जो नए यंत्र आविष्कृत हुए, उनसे लाभ उठाना चाहिए। हो सकता है, हमारे कुछ सिद्धांतों पर भी इस प्रकार से पुनर्विचार की जरूरत पड़े। उससे न तो डरना है और न भागना। मैं मानता हूँ कि उससे लाभ उठाकर हम संसार की विद्या में इजाफा कर सकते हैं; और आयुर्वेद को केवल हजारों बरस पहले के नुस्खों का भांडार ही न रहने देकर उसके द्वारा चिकित्सा और निदान के नए प्रकार भी निकाल सकते हैं। क्या संसार में कोई नई जड़ी-बूटी या धातु नहीं है, जिस पर हम आज प्रयोग कर सकते हैं? क्या कोई नया रोग या पुराने रोग की नई चिकित्साविधि नहीं हो सकती? क्या पुरानी औषधियों के प्रयोग का नया प्रकार नहीं हो सकता है? यह सब

हो सकता है। मगर तभी जब हम प्रयोगों से न डरें। नई पद्धति को जानकर और उसका पूरा अध्ययन करके हम उसे दूषित समझ लें और छोड़ दें तो कोई हर्ज नहीं; पर उसके बिना जाने ही यह मान लेना कि कोई पद्धति हो ही नहीं सकती, भारी भूल है और ऐसा करने से हम कूपमंडूक की तरह नई रोशनी से वंचित हो जाते हैं—अपने छोटे दायरे को ही सारा संसार मान लेते हैं।

इसी प्रकार राजनीति को लीजिए। मैंने ऊपर कहा है कि प्रजातंत्र अथवा गणतंत्र भारत के लिए कोई नई बात नहीं है—विशेषकर हम बिहारियों के लिए तो वह पुरानी और परिचित चीज़ है। आज संसार में तरह-तरह के सिद्धांतों और विचारों का प्रचार हो रहा है। हमारे युवक योरोपीय पुस्तकों को पढ़ते हैं और मान लेते हैं कि जो कुछ उनमें लिखा है, वही एकमात्र सत्य है और उसीके प्रचार में लग जाते हैं। हमें देखना है कि आज की समस्याओं का कोई हल हम अपने पूर्वजों के तरीके से कर सकते हैं या नहीं। डाक्टर भगवानदास ने लिखा है कि उन्होंने राजनीति की एक ही पुस्तक पढ़ी है और वह है मनुस्मृति। उन्होंने उसी के अध्ययन से आज के बहुत प्रश्नों का उत्तर भी निकाला है और बहुत समस्याओं के हल भी बताए हैं। वे एक बड़े गंभीर विद्वान् हैं। उन्होंने संस्कृत का अध्ययन तो किया, पर उसके साथ आज की आधुनिक रीति और विचारों से भी वैसा ही प्रगाढ़ परिचय प्राप्त किया है और इस सम्मिश्रण का फल है उनकी लेखनी की उपज! क्या आप आज के प्रश्नों का उत्तर देने में संस्कृत से कुछ सहायता दे सकते हैं? अगर आप दे सकते हैं तो आपकी विद्या सार्थक है, अन्यथा उसके जीवित रहने की संभावना नहीं है—शायद ज़रूरत भी नहीं है।

इस तरह हम नए और पुराने का सम्मिश्रण करके बहुत कुछ नया पैदा कर सकते हैं। मेरा विश्वास है कि नई समस्याओं के हल करने में हम संस्कृत से बहुत मदद पा सकते हैं। इसीलिए मैं इसका बड़ा पक्षपाती हूँ और मुझे अफसोस होता है कि अपने जीवन में मुझे इस प्रकार की सेवा करने का सौभाग्य और सुअवसर नहीं मिला। जो हो, हम अपनी संतान के लिए तो यह रास्ता अवश्य खोल सकते हैं और प्रशस्त बना सकते हैं।

एक बड़ी बात जिसका असर मेरे हृदय पर बहुत पड़ता रहता है यह है कि हमारी संस्कृति में एक विशेषता है कि हम किसी कठिन से कठिन काम के लिए बहुत सहज और सीधा उपाय निकाल सकते हैं। इसके दो छोटे-छोटे उदाहरण देखने से ही हमारी इस प्रकार की बुद्धि का परिचय हो जाता है। हमारे सूत्रकारों ने थोड़े से थोड़े शब्दों में कितना मसाला भर रक्खा है? एक अत्यंत छोटे यंत्र से, जिसके बनाने में शायद एक अधेला भी खर्च नहीं पड़ता और जिसको कोई अशिक्षित आदमी भी तैयार कर सकता है, ऐसी चीज़ हम पैदा कर सकते हैं, जिसके मुकाबले की चीज़ संसार के बड़े से बड़े और सूक्ष्म से सूक्ष्म यंत्र अभी तक नहीं बना सके हैं। जिस तकली पर हमारी छोटी-छोटी बच्चियाँ आज भी महीन से महीन सूत कात सकती हैं, उसी पर इतना महीन सूत काता जाता था, जितना महीन सूत आज की आधुनिक मशीन नहीं बना सकी है। पुराना चर्खा भी उसी प्रकार का एक अत्यंत सुलभ यंत्र है और उससे बहुत बड़ा काम हो सकता है और होता था। पर हमने अनुभव से देखा है कि उसमें भी बहुत तरक्की की जा सकती है और जब से हमारे कुछ भाई अपनी बुद्धि और आधुनिक विद्या उसकी तरक्की में लगाने लगे हैं, बहुत कुछ तरक्की हुई भी है। मेरा

इसीसे विश्वास दृढ़ होता है कि चाहे विद्या के विकास में हो, चाहे क्रियात्मक रूप से संसार के सामने कुछ पैदा करने में—हम अगर अपनी पुरानी रीति को नई रीति से देखें और उसमें संशोधन का प्रयत्न करें तो हम बहुत कुछ कर सकते हैं। जिस तरह आज यूरोपीय विद्या में जितनी चीजें उपलब्ध हैं, उनसे लाभ उठाकर विद्या को आगे बढ़ाने का यत्न किया जाता है, उसी प्रकार हमारी संस्कृत विद्या में जो कुछ मिलता है, उसको लेकर अगर हम उसको आगे बढ़ाने का यत्न करें तो हमको कोई कारण नहीं मालूम होता कि हम उसमें क्यों उन्नति नहीं करेंगे। इसलिए मेरा अनुरोध है कि इस विषय पर विचार किया जाय और पठन-पाठन की टोली में इस पर ध्यान रखकर जहाँ परिवर्त्तन और परिवर्धन की आवश्यकता जँचे, वहाँ वह किया जाय।

हमारे लिए एक बात और विचारने योग्य है। मेरा अनुमान है कि संस्कृत के पुराने पंडितों का आज की प्रचलित हिंदी भाषा के प्रति प्रेम नहीं है। वे संस्कृत के अध्ययन में इतने लगे रहते हैं कि इसके जानने की आवश्यकता ही नहीं महसूस करते। हमको मानना पड़ेगा कि आधुनिक युग में विद्या सर्वव्यापी है और गूढ़ से गूढ़ चीज़ भी आज छिपाई नहीं जाती। चाहे यह नीति ठीक हो या गलत, हमें मानना पड़ेगा कि बहुत कुछ तो हमको केवल अपने ही लिए, अथवा मुट्ठीभर विद्वानों के लिए ही, नहीं सीखना या सिखाना है—उसका प्रचार जनता में भी करना आवश्यक है। वह हिंदी द्वारा ही हम कर सकते हैं और जब विद्वान् लोग हिंदी पर ध्यान देंगे तभी उसकी उन्नति भी हो सकती है, उसमें वह शक्ति भी आ सकती है, जिसकी जरूरत हम सब मानते हैं। संस्कृत विद्वानों में भी अब ऐसे लोग निकलते हैं, जिन्होंने हिंदी की बड़ी सेवा की है और कर रहे हैं।

पर अभी तक बहुतेरे विद्वान् हिंदी को हेय दृष्टि से देखते हैं। ऐसी बात फारसी और अरबी के विद्वानों की नहीं है—वे उर्दू के प्रति यह भावना नहीं रखते। मैं चाहता हूँ कि आप इस पर भी विचार करें।

अधिक समय न लेकर मैं एक बार और यही कहकर समाप्त करना चाहता हूं कि संस्कृत के लिए हिंदुस्तान में बहुत बड़ा मैदान है—हम उसका ठीक उपयोग करें—प्रगतिशील बनें—प्राचीन और आधुनिक का समन्वय खोज निकालें—उसके रत्नों का मोल आँकना सीखें और फिर भी संसार को उन समस्याओं का हल निकाल बतलावें, जो आज उसे सता रही हैं। आपका यह सबसे बड़ा कर्त्तव्य है और इस युग का यही सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है।



भूल-चूक

पृष्ठ	पंक्ति	छपा है	पढ़िए
१६	१३	लकीरों के	लकीरों से
४१	३	घर्मों	घर्मों (timbre)
४१	६	है।	है,
४४	१५	सभ्य	मध्य
४६	१३	शास्त्रों	शस्त्रों
५६	६	वीज	वीजू
५६	७	कल मवृक्ष	कलमी वृक्ष
५७	४	स्त्री-पु	स्त्री-पुरुष-
७३	६	समरांगन सूत्रधार	समरांगणसूत्रधार
१०२	६	की जगह	की नीति ग्रहण को और बौद्ध धर्म की जगह
१०४	६	मानसू	कानसू